सत्साहित्य-प्रकाशन

मील के पत्थर

—हृदयस्पर्शी रेखाचित्र तथा संस्मरण—

रामवृक्ष बेनीपुरी

१९६१

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९६१
मूल्य
सवा दो रुपये

मुद्रक
राष्ट्र भाषा प्रिंटर्स
दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत संग्रह में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक बन्धुवर रामवृक्ष बेनीपुरी के कुछ चुने हुए रेखा-चित्र एवं संस्मरण दिये गए हैं। इन रचनाओं को पढ़कर पाठक देखेंगे कि लेखक की दृष्टि कितनी पैनी है और कैसे-कैसे सूक्ष्म चित्र उपस्थित करती है। जहांतक शैली का सम्बन्ध है, लेखक का अपना स्थान है। छोटे-छोटे वाक्यों तथा भाव-भरे शब्दों के प्रयोग से वह भाषा में ऐसी जान डाल देते हैं कि पाठक पढ़कर मुग्ध रह जाता है। कहीं-कहीं तो उनके वाक्य बिना क्रिया-पद के ही चलते हैं, पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो भाव उनमें छल-छला रहे हों। उन जैसे शैलीकार हिन्दी-जगत में कम ही हैं।

इस पुस्तक में भारतीय नेताओं एवं चिंतकों के संस्मरण तो पढ़ने को मिलेंगे ही, साथ ही अन्य अनेक देशों के महापुरुषों के भी। जौहरी यह नहीं देखता कि हीरा कहां पड़ा है। वह उसे पहचानते ही तत्काल उठा लेता है। लेखक को जहां भी चरित्र की उत्कृष्टता दीख पड़ी है, उसपर प्रकाश डाला है और इस प्रकार अपनी रचनाओं को उन्होंने न केवल सुपाठ्य बनाया है, अपितु शिक्षाप्रद भी।

हमें विश्वास है कि यह संग्रह पाठकों को बहुत प्रिय लगेगा। हम चाहते हैं कि अन्य भाषाओं में भी इसका अनुवाद हो, जिससे अधिक-से-अधिक भारतीय पाठक इस उत्तम पुस्तक का रसास्वादन कर सकें।

दूसरा संस्करण

पुस्तक का दूसरा संस्करण पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता है। आशा है, पहले संस्करण की भांति यह संस्करण भी लोकप्रिय होगा।

—मंत्री

विषय-सूची

मील के पत्थर

: १ :

बापू की कुटिया में

बापू, यहां तुम्हारी इस कुटिया में, तुम्हारे पायताने बैठकर, ये कुछ पंक्तियां लिख रहा हूं।

जबतक तुम यहां थे, मैं नहीं आया। यह मेरा दुर्भाग्य था या सौभाग्य? दुर्भाग्य तो था ही, क्योंकि जिसके आदेश पर अपने जीवन के प्रवाह को मोड़ दिया, जिसकी आज्ञा पर बार-बार अपनेको संकटों में डाला और सबसे बढ़कर जिस विश्ववंद्य व्यक्ति के दर्शन के लिए दूर-दूर देशों के लोग आते रहे—उसकी जिन्दगी में, उसके आवासस्थान पर पहुंचकर, उसकी चरण-रज से अपने मस्तक को धन्य न बना सका, यह दुर्भाग्य नहीं तो क्या है? फिर बापू, तुमने तो अपनी चरणधूलि से मेरे छोटे-से गांव को भी एक दिन पवित्र किया था। अतः यह स्वभावतः ही उचित था कि जब तुम यहां थे, मैं आता और तुम्हारे दर्शनों से, तुम्हारे चरणस्पर्श से अपने जीवन को कृतकृत्य करता। पर, यह सब नहीं हो सका, नहीं हो सका।

किन्तु, देखता हूं, और आज यहां प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूं—आदमी का दुर्भाग्य भी कभी-कभी सौभाग्य बन जाता है। लगता है, 'देर आयद दुरुस्त आयद' की कहावत बहुत ही सच है। यदि मैं उन दिनों जाता तो क्या मैं तुम्हारे बिस्तरे के इतना निकट, इतनी देर के लिए, स्थान पा सकता था? उस शांत एकान्त में, अकेले-अकेले इस कुटिया से इतना तादात्म्य प्राप्त करने में सफल हो सकता था? अरे, तुम्हारे पायताने बैठकर अपनी लेखनी को इस तरह सार्थक करने का सौभाग्य उन दिनों क्या खाकर, किस पुरातन पुण्य-बल से, पा सकता था?

उन दिनों जो अधिक-से-अधिक हो पाता, वह यह होता कि तुम्हारे

बिस्तरे से सटी,बांस के डंडे से बनी, उस खिड़की से, बस, तुम्हारी एक झलक मात्र प्राप्त कर सकता, या अधिक-से-अधिक इस दरवाजे से आकर तुम्हें प्रणाम करता हुआ उस दरवाजे से निकल जाता।

तुम्हारा यह बिस्तरा—खजूर की चटाई पर एक गद्दा डालकर और उसे खादी से ढंककर बनाया गया यह श्वेत-शुभ्र बिस्तरा। बापू ! लगता है, तुम अभी-अभी यहां से कुछ देर के लिए बाहर गये हो और अभी-अभी उस हृदयहारी मुस्कान के साथ पधारोगे। तुम्हारा वह बिस्तरा, तुम्हारा वह तकिया, तुम्हारी वह तुलसी की माला, तुम्हारा वह प्यारा चरखा—सब-के-सब यही तो कह रहे हैं—तुम अभी गये हो, अभी आओगे।

किन्तु नहीं, इस कुटिया के दाहिने द्वार के निकट जो यह घड़ी और खड़ाऊं की जोड़ी है, वह कहती है—अरे, तुम किस भ्रम में हो। बापू क्या हमें छोड़कर कभी बाहर निकलते थे ? वह बाहर कहीं नहीं गये हैं ! तो क्या बापू यहीं हैं ? कहां हैं, बताओ, ओ बिस्तरे, हमारे सारे राष्ट्र के बापू कहां हैं ?

बिस्तरा नहीं बोलता, किन्तु सेल्फ पर रखे बापू के तीनों चीनी बन्दर तो इशारे से कह रहे हैं—आंखें बन्द करो, जबान बन्द करो, कान बन्द करो—अपनेको आत्मस्थ करो, फिर देखोगे, बापू यहीं हैं।

और सचमुच पा रहा हूं, बापू, तुम कहीं गये नहीं, यहीं हो, इसी बिस्तरे पर, उस तकिये के सहारे, बैठे हो। हां-हां, इस शांत एकान्त में, जहां सिर्फ पंडुकों की 'कू-कू' या रहट की 'चर्र-चूं' ही सुनाई पड़ती है, मैं इस सारी कुटिया को बापूमय पा रहा हूं।

गांधी मर गया, बापू चल बसे—कह लो, सुन लो। यदि आंखें हों, हिये की आंखें, तो पाओगे, बापू यहां विद्यमान हैं।

देखिये, बापू वह अपने बिस्तरे पर बैठे अपने यरवदा-चक्र को घुमा रहे हैं। अभी कुछ देर पहले उन्होंने सामने रखे कलमदान से कलम निकालकर कुछ लिखा है। और अब ज़रा हट जाइये, थके-मांदे बापू हाथ में तुलसी की माला लिये अपने सामने की दीवार में मिट्टी की उभाड़ से बनाये दो नारियल के वृक्षों के बीच गेरू से लिखे ॐ को निर्निमेष दृष्टि से निहार रहे हैं। और, उस ॐ के ऊपर क्या है ?—हे राम !

हे राम ! आह, कल्पनालोक से उठाकर मैं किस कठोर चट्टान पर पटक दिया गया ! हे राम !—इस शब्द ने कहा—नहीं, बापू अब हमारे बीच नहीं रहे ! वह हमसे कबके छीन लिये गए !—उस दिन, जब गोलियों के तीन भयानक धड़ाकों के बीच, दुनिया ने अन्तिम बार उनके मुख से "हे राम" सुना था !

"जनम-जनम मुनि जतन कराहीं ।
अंत राम कहि आवत नाहीं ।"

उस दिन संसार ने पाया था, ऋषियों की परम्परा टूटी नहीं है, बल्कि उसमें नई ज्योति की एक नई कड़ी जुड़ गई है । काश, यह ज्ञान उस अज्ञानी को हो पाता, जिसने हिन्दुत्व के नाम पर इतना बड़ा अनर्थ किया !

किन्तु, यह तो मेरा दावा है कि वह हमसे सिर्फ बापू का नश्वर शरीर छीन सका । जो नश्वर है, उसे नष्ट होना ही था—एक-न-एक दिन, कभी-न-कभी । किंतु बापू अमर हैं । अपने दिव्य रूप में वह सिर्फ यहां ही विद्यमान नहीं हैं, यत्र-तत्र-सर्वत्र उनकी सत्ता और महत्ता व्याप्त है और तबतक व्याप्त रहेगी जबतक आकाश में चांद, सूरज, तारे हैं और पृथ्वी पर उद्भिज, अंडज, पिंडज हैं ।

ओ सवा हाथ चौड़े और चार हाथ लम्बे बिस्तरे ! इस सादगी में भी तुम कितने महान् हो, क्या इसका अहसास तुम्हें कभी होता है ? अरे, तुम्हें देखकर कितने रत्न-जड़ित स्वर्ण-सिंहासन भी ईर्ष्या से जलते होंगे । क्या कभी उनपर एक क्षण को भी उतना बड़ा आदमी बैठा होगा, जितने बड़े आदमी को कितने ही दिनों, महीनों, वर्षों तक तुम्हें, अपने ऊपर आसीन करने का गौरव प्राप्त हो सका ?

यह गौरवशाली बिस्तरा ! जिसके सिरहाने दीवार से सटी काठ की तख्ती, जिसकी कठोरता को कम करने के लिए उतना ही बड़ा तकिया । थक जाने पर बापू उसी तकिये के सहारे बैठते । बिस्तरे के दाहिने—बापू की कुछ आवश्यक वस्तुएं । पत्तों का बना वह टोकरा, जिसमें वह रद्दी कागज-पत्रों को डाल दिया करते । आज भी उसमें कुछ ऐसे कागज-पत्र हैं । उसीकी बगल में एक बोतल, जिसमें बापू के पीने के लिए ताजा पानी रखा जाता । बोतल की बाजू में, दीवार से सटा, पीतल का थूकदान,

जिसे बापू स्वयं साफ करते। कलमदान जिसपर अब भी उनकी लेखनी रखी है। यह जादू-भरी लेखनी—इसने अपनी नोंक से न जाने कितने लोगों के प्राणों को उद्वेलित किया ? एक स्टैंड पर एक पेंसिल। फिर वह यरवदा-चक्र, जिसके चक्कर से ही सारा भारत नाचने लगा, ठीक उसी तरह जिस तरह कृष्ण की वंशी से गोपियां नाचने लगी थीं !—अपनेको भूलकर, कुल-परिवार को भूलकर, सारे संसार को भूलकर ! उससे सटे कताई के कुछ फुटकर सामान—पूनी, तांत आदि। फिर तीन खानों का एक छोटा-सा सेल्फ।

बापू को समझने के लिए इस छोटे-से सेल्फ को भली-भांति देखना ही होगा—इसमें बापू का सारा मानस-संसार समाया है। सबसे पहले इसके ऊपर एक कूट की दफ्ती पर टंगी, बड़ी अच्छी लिखी, लारिमर की इस सूक्ति को पढ़िये—

"When you are in the right, you afford to keep your temper. And when you are in the wrong, you cannot afford to lose it."

—G. C. Larimar.

हां, गुस्सा होने के लिए, क्रोध करने के लिए, तुम्हारे लिए कभी गुंजाइश नहीं है ! यदि सच्ची राह पर हो तो उसकी जरूरत ही नहीं, यदि गलत राह पर हो, तो फिर किस बिरते पर, किस मुंह से, आंख लाल-पीली करोगे !

सेल्फ के ऊपर पत्थर का एक टुकड़ा, योंही ऊबड़-खाबड़, कहीं से उठा लाया गया। यह बापू के लिए पेपरवेट का काम करता था। नीचे के दो खानों में बापू की किताबें। पहले खाने में—(१) सार्थ गुजराती जोड़नी कोश, (२) Rethinking Christianity, (३) हजरत ईसा और ईसाई धर्म और (४) श्रीमद्भगवद्गीता। दूसरे खाने में—(१) रामचरितमानस, (२) श्रीस्वास्थ्य-वृत्ति, (३) आश्रमभजनावली और (४) गीता आणि गीताई। किताबों के खानों के आगे एक आलमुनियम का डब्बा, जिसमें सूत आदि। फिर, वे तीन सुप्रसिद्ध चीनी बंदर, जिन्होंने इतिहास में स्थान पा लिया है। लगता है, वे तीनों बंदर इस सूने वाता-

वरण से घबरा उठे हैं। नहीं, जैसे एक ने बापू की मृत्यु की खबर सुनकर अपने कान सदा के लिए बंद कर लिये हैं, एक आंखों को तलहथियों से छिपाकर रो रहा है और एक अपने मुंह पर हाथ रखकर कह रहा है— अरे, अब हम-तुम क्या बोलेंगे ? जिसे बोलना था, वह तो इस कुटिया को, इस बिस्तरे को, खाली करके सदा के लिए चला गया।

तीन बंदरों की बगल में चिकने पत्थर का एक खुशनुमा टुकड़ा, जिस पर लिखा है—God is Love (प्रेम ही भगवान है); फिर, एक चित्रकारी की हुई डिबिया, जिसमें दो-तीन फुटकर चीजें।

सेल्फ के निचले खाने में कुछ पत्थर के टुकड़े भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के। ये सब पेपरवेट के काम आते थे। फिर बिहार में प्रचलित कीए के आकार का एक ढक्कनदार बरतन।

बिस्तरे के दूसरी ओर तीन छोटे-छोटे डेस्क, जिन्हें वह शायद लिखने के समय व्यवहार में लाते थे। डेस्कों के बाद, खंभे से सटी चटाई पर एक छोटा-सा कालीन, जिसपर दीवार से लगा एक तकिया। यहीं मान्य अतिथि बैठाये जाते और वे बापू से घुल-मिलकर बातें करते। फिर सारे घर में चटाइयां-ही-चटाइयां।

खजूर की ये चटाइयां कितनी भाग्यशालिनी रही हैं ! इन्हींपर देश-विदेश के बड़े-बड़े व्यक्ति बैठते और बापू के मुख से निकले वचनामृत का पान करते। बापू अपने चक्र को घुमाते हुए उनसे बातें करते जाते। यों काम के साथ बात को मिलाकर मानों हमें सदा चेतावनी देते—देखो, समय बर्बाद मत करो। तुम्हारी बातें भी तुम्हारे कर्म के चक्र को कभी नहीं रोक सकेंगी। जिन चटाइयों पर कभी नेहरू, राजेन्द्रप्रसाद, पटेल के समान देश के बड़े-से-बड़े लोग और संसार के बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञ, पत्रकार, साहित्यिक बैठते थे, उनपर आज इस दुपहरिया में अकेला मैं बैठा हूं—इस बात की कल्पना भी भाव-मुग्ध कर रही है।

किन्तु इन चटाइयों पर बैठना खांडे की धार पर बैठना था, क्योंकि इन चटाइयों के ऊपर एक दफ्ती पर वह क्या लिखा हुआ टंगा है ? उसे पढ़िये—

"The issue of lying is in deception, not in words : a

lie may be told by silence, by equivocation, by the accent on syllable, by a glance of the eye, attaching a peculiar significance to a sentence, and all these kinds of lies are worse and baser by many degrees than a lie plainly worded." [1]

—Ruskin

बापू की इस कुटिया के तीन भाग हैं। एक भाग यह है, जहां मैं बैठा हूं, जहां कभी बापू रहते थे। इसके बगल में, मध्य भाग में, एक कोठरी है, जिसमें एक चौकी पर एक बिस्तरा सिमटा हुआ रखा है। इस कोठरी में, अंतिम दिनों में अमृतकौर रहती थीं। बिस्तरा गोल कर वह बाहर गईं कि बीच में ही वह दुर्घटना घटी, बेचारी फिर लौटकर नहीं आईं।

इसके तीसरे भाग में बापू का स्नानागार है। कितनी सफाई, कैसी स्वच्छता! बापू अपने कमोड को अपने हाथों कैसा साफ रखते! उसकी सफाई के लिए लकड़ी का ब्रुश हैं, फिनाइल की शीशी है। कमोड के आगे, उससे सटा एक सेल्फ है, जिसमें पहले कुछ किताबें रहतीं। बापू शौच के समय भी पढ़ा करते। कमरे में पानी की बाल्टियां, लोटे, मिट्टी के हंडे आदि हैं। इस भाग के दो हिस्से हैं। एक में शौच और स्नान के ये सामान हैं। दूसरे में एक चौकी है, कुछ तख्ते हैं—बापू के शरीर में यहीं तेल की मालिश की जाती थी।

बापू की कुटिया की एक-एक वस्तु को अपलक दृष्टि से देख रहा हूं और लिख रहा हूं। बांस और लकड़ी की बनाई हुई यह कुटिया; ऊपर खपरेल। दीवारें बांस की फट्टियों की हैं, जिनपर चटाइयां लगाकर ऊपर से मिट्टी से पोत दिया गया है। कहीं भी चूना या किसी रंग का प्रयोग नहीं किया गया है। दरवाजे और खिड़कियां काफी हैं—हवा और

[1] "झूठ शब्दों में निहित नहीं है, छल करने में है। चुप्पी साधकर भी झूठ बोला जा सकता है। दोहरे अर्थवाले शब्दों के प्रयोग द्वारा, किसी शब्दांश पर जोर देकर, आंख के संकेत से और किसी वाक्य को विशेष महत्व देकर भी झूठ का प्रयोग होता है। वस्तुतः इस प्रकार का मिथ्या प्रयोग साफ शब्दों में बोले गये झूठ की अपेक्षा कई गुना बुरा है।"

रोशनी की कमी नहीं।

बापू, तुम चले गये। यह सदमा हमने, सारे राष्ट्र ने किसी तरह सह ही लिया। किन्तु जब यह सोचता हूं कि बांस, काठ और चटाई से बनी यह कुटिया आठ-दस वर्षों के बाद नहीं रहने पायगी—लाख चेष्टा करने पर भी समय का कीट इसे चाट जायगा, इस कुटिया की जगह यहां शून्यता-ही-शून्यता रहेगी, तब हृदय और भी विचलित हो जाता है। मानव को पूजकर हमें संतोष नहीं, तो हम उसकी पत्थर की मूर्ति बनाकर पूजते और सन्तोष कर लेते हैं, किन्तु उससे सम्बद्ध खर-पात से कैसी ममता हो जाती है कि, हम मान लेते हैं, इसकी पूर्ति तो हो नहीं सकती।

हां, नहीं हो सकती। कैसा भी संगमरमर क्या, सोने का मन्दिर भी एक दिन तुम यहां बनवा लो, इस कुटिया की क्षतिपूर्ति वे कर नहीं सकेंगे। इच्छा होती है, मैं ज़ोर देकर यह कहूं।

बापू की कुटिया! क्या कोई ऐसा उपाय नहीं कि बापू के बाद कम-से-कम तुम्हें तो सदा इसी रूप में देखने का सौभाग्य पाता रहूं। तुम नहीं बोल रहीं—तुम्हारा यह नीरव मौन कितना असह्य लग रहा है! काश, तुम समझ पातीं, ओ बापू की कुटिया!

... ...

और बापू, जब तुम्हारी इस कुटिया में, तुम्हारे बिस्तरे के पायताने बैठकर यह लिख रहा हूं, तुम्हारी कितनी मूर्त्तियां आंखों के सामने आकर मंडरा रही हैं!

उनमें से चार मूर्त्तियां तो मेरे जीवन से ऐसी लिपटी हैं कि क्या आजीवन उनसे अपनेको मुक्त कर पाऊंगा?

पहली मूर्त्ति—जब मैं किशोर ही था। देहात से आया था, शहर में पढ़ने। शुरू से ही राष्ट्रीयता की ओर झुकाव। तुमने दक्षिण अफ्रीका में जो कुछ किया था, पढ़ चुका था। तुम उन दिनों कर्मवीर गांधी के नाम से हिन्दी-संसार में अभिहित थे। एक दिन मैं अपने स्कूल में पढ़ने जा रहा था कि शहर के एक राष्ट्रकर्मी से भेंट हो गई। वह मेरी प्रवृत्तियों को जानते थे। बोले, कर्मवीर गांधी इसी ट्रेन से चम्पारन जा रहे हैं। क्या उनके दर्शन नहीं करोगे?

स्कूल की ओर से स्टेशन की ओर मेरी दिशा बदल गई । स्टेशन पहुंचकर उस थर्ड क्लास के डब्बे की ओर बढ़ा, जिसमें तुम सफर कर रहे थे।

आज भी याद है बापू, तुम्हारे दर्शनों के लिए मेरे मन में कैसा तूफान उठ रहा था, पैर डगमगा रहे थे, कलेजा धड़धड़ कर रहा था । मैं तुम्हें देखूंगा—कैसे होगे तुम ? तुम—कर्मवीर गांधी ! तुम्हारे कई चित्र देखे थे, किन्तु क्या चित्र सही रूप दे पाते हैं ? उन चित्रों में दो चित्र प्रमुख थे : एक, जब तुम एक ढीला कुर्ता पहने, कंधे से एक झोला लटकाये, हाथ में डंडा लिये सत्याग्रह के लिए प्रस्थान कर रहे हो । दूसरा, तुम्हारे बदन में मिर्जई, सिर पर काठियावाड़ी मुरेठा—ढीला-ढाला । मैं जल्दी-जल्दी उस डब्बे के निकट पहुंचा, जिसके दरवाजे पर कुछ लोग खड़े थे । हां, कुछ ही लोग ! मैं एक खिड़की के निकट खड़ा होकर भीतर झांकने लगा—कितनी उत्सुकता से, कितनी व्यग्रता से !

किन्तु तुम कहां हो ? उन दोनों तस्वीरों के आधार पर एक-एक चेहरे को देख रहा हूं, किन्तु कहां पा रहा हूं ? एक सज्जन दीखे, गोरे-भभूके, काफी कद्दावर, चेहरे से रौब टपक रहा ! हां-हां, यही गांधीजी होंगे । जो इतना बड़ा आदमी है, जिसने कितने कमाल किये हैं, जो कर्मवीर है, जो अकेला नीलहे गोरों से लड़ने चम्पारन जा रहा है—उसे तो ऐसा ही तेजस्वी, रौबदार, भारी-भरकम होना चाहिए ! किन्तु, उन चित्रों से ज़रा भी समता तो इस व्यक्ति में नहीं मिलती !

मैं इसी तरह परेशान था कि वह सज्जन मेरे निकट आये और बोले—गांधीजी को देख लिया ? "जी···"मेरे मुंह से पूरी बात भी नहीं निकली । उन्होंने बताया, वह, जो उस रौबदार आदमी के आगे के बेंच पर बैठे हैं, वही गांधीजी हैं ।

बापू, तुम्हारी वह सूरत आज भी याद है ! रूखा-सूखा तुम्हारा चेहरा, जिसपर सबसे प्रमुख वे दोनों कान !—जैसे संसार के सारे दुःख-दर्द सुनने को व्याकुल । सिर पर वह टोपी—जो पीछे चलकर अपने सुधरे रूप में गांधी-टोपी के शुभ नाम से अभिहित हुई । शरीर में पतले कालरवाला कुर्ता—खुरदरे कपड़े का । कमर में घुटनों तक की धोती और पैर

में चप्पल ! तुम्हारे हाथ में उर्दू की एक प्रारम्भिक पुस्तिका थी, जिसे तुम पढ़ रहे थे और कुछ कठिनाई होती तो मुस्कराकर उस रौबदार चेहरे-वाले को दिखाते और पूछ लेते। उसी सज्जन ने बताया, वह रौबदार चेहरेवाले सज्जन मौलाना मजरउल हक़ थे। उन दिनों तक तुम्हारे पैर छूने का रिवाज नहीं चला था, तो भी क्या मेरा मन बार-बार उनके छूने को नहीं ललकता था !

उसके पांच साल बाद १९२१ में तुम्हें देखा। असहयोग का बिगुल फूंकते तुम मुजफ्फरपुर पहुंचे थे। ओहो, कैसी भीड़ उमड़ी थी तुम्हारे दर्शनों के लिए ! दर्शनार्थियों ने तुम्हारे पैर छू-छूकर उन्हें घायल कर दिया था ! तुम्हें निकट से देखूं, इसके लिए मैंने स्वयंसेवकों में नाम लिखा लिया था। तुम मना कर रहे थे, हम लोगों को हटा रहे थे, किन्तु उस पागल भीड़ को कौन रोके ! तुम्हारी वेशभूषा में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था। हां, कपड़े और भी खुरदरे हो चले थे ! किन्तु ज्योंही तुम मुंह खोलते, लगता, ज्वालामुखी ने मुंह खोला है—एक-एक शब्द, क्रांति के शोले ! तुम खुले आम सरकार को "शैतानी सरकार" कहते थे ! इससे सब प्रकार का सहयोग हटाने के लिए जनता को ललकारते थे और एक साल के अन्दर ही स्वराज्य स्थापित कर लेने की घोषणा करते थे। उन दिनों लाउडस्पीकर कहां था ? किन्तु उस तरंगित जन-समुद्र में भी तुम्हारी आवाज़ कोने-कोने में पहुंचती थी !

तीसरी बार तुम्हें अत्यन्त निकट से देखा, १९३४ में, जब तुम भूकम्प से तबाह और बर्बाद मेरे गांव में गये थे ! बाढ़ के कारण पहले से ध्वस्त-पस्त वह गांव—पेड़ सूख गये, पशु मर गये, मलेरिया से जनसंख्या आधी हो गई। उसपर भूकम्प ने जैसे उसकी कमर ही तोड़ दी। तुम मेरे गांव में गये, नाव पर चढ़कर उस विषैली झील को देखा। नाव पर जाते हुए तुमने मल्लाह से कहा, "ज़रा मिट्टी दिखाओ।" उसने नाव की लकड़ी से मिट्टी निकालकर तुम्हें दिखलाई, तुमने उस मिट्टी को हाथ में लिया, अच्छी तरह देखा, फिर बोले—"इस मिट्टी में तो सोना पैदा हो सकता है !" और लो, तुम्हारा वचन सार्थक हुआ। दूसरे साल से ही वहां कितनी अच्छी फ़सल आने लगी !

उस समय तुम्हारा वह वेश स्थायी बन चुका था—कमर में घुटनों तक की धोती, जिसके ऊपर घड़ी लटक रही। बदन पर चादर। किन्तु तुम्हारे चेहरे पर कितना तेज! मेरे बूढ़े चाचा ने चौदह साल बाद तुम्हें देखकर कहा था—हो, गांधीजी त दिन-दिन जुग्रान भेल जाइछथुन! हां, १९२१ की अपेक्षा तुम कहीं अधिक स्वस्थ और तेजोमय दीख पड़ते थे!

और अन्तिम मूर्त्ति तुम्हारी वह, जब हिन्दू-मुस्लिम-दंगों के बाद तुम बिहार आये थे! पटना के मैदान में तुम्हारा प्रवचन होता था। यों मैं अलग-अलग से तुम्हें देख आता था, तुम्हारे प्रवचन सुन लिया करता था। किन्तु उस दिन एक मित्र ने मुझे पकड़कर मंच पर बिठला दिया। तुम निकट ही बैठे थे, प्रार्थना शुरू हुई। लड़कियों ने रामधुन और भजन शुरू किया। तुम ध्यानस्थ हो गये—ऐसे कि लगता था, किसी कलाकार द्वारा गढ़ी कांसे की सुघड़ मूर्त्ति यहां स्थापित की गई हो। शरीर में ज़रा भी कंपन, स्पंदन कहां? मैं तुम्हारे चेहरे को गौर से देख रहा था। उसी समय न जाने कहां से एक मच्छर आ गया और वह बार-बार तुम्हें डंसने लगा। जब-जब वह डंसता, तुम धीरे-से हाथ उठाते और इस सबुक से उसे हटाते कि कहीं उस बेचारे को चोट न लग जाय! ओहो, बापू, एक तुच्छ मच्छर पर भी ऐसी ममता—तुच्छ मच्छर पर, दुष्ट मच्छर पर! किन्तु वह अपनी दुष्टता क्यों छोड़े! संयोग से मेरा मझला बच्चा साथ था। उससे यह नहीं देखा गया, एक पंखा लेकर तुमपर झलने लगा, मच्छर भाग गया।

किन्तु जब लड़कियां भजन गाने लगीं, बार-बार तुम थोड़ा सिहर उठते! वे कुछ बेसुरा गा रही थीं! यह सिरहन उस बेसुरेपन पर! नहीं-नहीं, जब भजन समाप्त हुआ, तुमने पूछ ही लिया—क्यों, बेसुरा हो गई थीं, तुम! कौन कहता है, बापू, कि तुम कलामर्मज्ञ नहीं थे? यों तो मैं तुम्हें कलाकार ही मानता आया हूं! सादगी में कला क्या होती है—तुमने हमें बताया, जो रंगों और रूपों के घटाटोप को ही कला मानते आये थे!

तुम्हारी ये चारों मूर्त्तियां—कर्मवीर मूर्त्ति, क्रान्तिमूर्ति, त्रातामूर्ति, कलाकार-मूर्त्ति—आज जब मैं तुम्हारे पायताने बैठा हूं, बार-बार ध्यान

में आ रही हैं और जब-जब कल्पना करता हूं, अब तुम्हें प्रत्यक्ष नहीं देख सकूंगा, तुम हमें छोड़कर चले गये, तो कलेजा मुंह को आता है, आंखें छलछला उठती हैं, कलम आगे बढ़ना नहीं चाहती ! आह ! क्या सचमुच हम तुम्हें नहीं देख सकेंगे अब ?

अब मैं बापू की कुटिया के आंगन में आ बैठा हूं। निस्सन्देह बापू भी कभी-कभी यहां आकर बैठते होंगे।

इस आंगन के तीन तरफ छोटे-छोटे पेड़ हैं। कहा जाता है, इन पेड़ों में से अधिकांश को बापू ने अपने हाथों से लगाया था। इन सब पेड़ों में सबसे बड़ा, सघन और सजीला लगता है एक पीपल का पेड़, जिसे बापू के हाथों से लगाये जाने का निश्चित सौभाग्य प्राप्त है। यह पेड़, इस कुटिया के सदर दरवाजे पर प्रहरी-सा खड़ा है। एक पीपल का पेड़ था, जिसकी छाया ने सिद्धार्थ गौतम को बुद्धत्व दिया और एक यह पीपल है, जिसने अपनी छाया आधुनिक बुद्ध से प्राप्त की है। बापू ने इसे रोपा था, सींचा था, बड़े लाड़-प्यार से इसे बड़ा किया था। बुद्ध-गया के उस पेड़ से इसकी समता देने में शायद कुछ लोगों को एतराज हो, किन्तु मेरी कल्पना की आंखें देख रही हैं, समय के प्रवाह के साथ वृद्धि पाती हुई इसकी डालियों की तरह ही इसकी गरिमा और महिमा बढ़ती जायगी और एक दिन आयगा, जब भारत शांति-संदेश के रूप में इसकी डालियां संसार के कोने-कोने में भेज का लोभ संवरण नहीं कर सकेगा।

आंगन के उत्तर की ओर क्रमशः ये पेड़ हैं—नीम, हरसिंगार, एक अज्ञात फूल का पेड़ और फिर नीम। पहले नीम के पेड़ से सटा एक गुलाब का झाड़ है और एक बेले का। मुझे बताया गया है, यहां बापू ने गुलाब के बहुत-से झाड़ लगाये थे, वे अच्छे फूल भी देते थे, किन्तु जब संसार का चलता-फिरता गुलाब चला गया, तो फिर वे गुलाब क्यों न सूख जायं, झड़ पड़ें ? हां, गुलाब का यह एकाकी झाड़, अपनी सारी श्री और शोभा खोकर भी उस बीते हुए वसंत की याद दिला रहा है। हां, उन फूलों की जगह अब सूरन के कुछ सुकुमार पौधे अपनी हरीतिमा से मन को अवश्य मुग्ध कर रहे हैं।

पश्चिम ओर की पांत में पेड़ों का क्रम यों है—बेल, हरसिंगार, नीम,

एक अज्ञात वृक्ष, नीम, फिर हरसिंगार और इन सबका शृंगार वह पीपल का पेड़। शरद ऋतु है, सभी पेड़ों के पत्ते धुले-पुंछे हैं। हरसिंगार के पेड़ों से रह-रहकर फूल चू पड़ते हैं। उस अज्ञात नाम पेड़ पर गिलहरी की एक जोड़ी ऊधम मचाये हुई है। अभी एक जोड़ा पंडुक उड़ता हुआ आया, नीम के पेड़ पर बैठा और फिर, शायद मुझ अपरिचित को देखकर, फुर्र से उड़ गया!

दक्षिण ओर हरसिंगार, आम और अशोक की त्रयी। बार-बार सोचता हूं, इन तीन पेड़ों का यह संयोग आकस्मिक हुआ, या बापू ने कुछ सोच-समझकर भारतीय वृक्षों के इन तीन शिरोमणियों को यहां एकत्र किया था—एक में फूल-फूल, एक में फल-फल और एक में पत्ती-पत्ती। एक में गंध-गंध, एक में रस-रस, एक में रूप-रूप। और रूप, रस, गंध में ही तो संसार की सारी नियामतें सन्निहित हैं।

बापू की इस कुटिया के सामने, पूरब की ओर एक कुटिया है, जिसमें बापू के निकटतम अतिथि आकर ठहरते थे। जब आचार्य नरेन्द्रदेवजी दमे से सख्त पीड़ित थे, बापू ने उन्हें लाकर यहीं टिकाया था। उन्हीं दिनों इंगलैंड से क्रिप्स-मिशन आया था। बापू दिल्ली गये, किन्तु तुरन्त वापस लौटे। प्रेस-प्रतिनिधियों ने पूछा—आप थोड़ा और क्यों नहीं ठहर जाते? बापू ने कहा था—कोई डाक्टर अपने रोगी को किस तरह छोड़ सकता है? बापू अतिथिनवाज़ थे।

इस कुटिया के उत्तर की तरफ महादेवभाई की कुटिया है। काफी बड़ी है वह कुटिया। वह सपरिवार रहते थे। उस कुटिया से बापू की कुटिया तक आने के लिए एक पगडंडी है। उसी पगडंडी से महादेवभाई आते और प्रायः बापू भी वहां जाते। अब पगडंडी पर घास उग आई है। जब जानेवाले जाते रहे, तब फिर यह पगडंडी अपना मुंह क्यों न छिपा ले?

दक्षिण तरफ बा की कुटिया है—पूजनीया बा की। जब उस कुटिया के भीतर घूम रहा था, बार-बार बा की महिमा हृदय में खिल उठती थी। इस भोली-भाली अपढ़ स्त्री ने, न जाने किस पुण्य-प्रताप से, बापू-सा पति-रत्न प्राप्त किया था! राम की सीता की तरह बापू की बा भी इतिहास

का एक अमर चरित बन गई है। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है।

अभी कल एक भाई ने वर्धा में बा के संबंध में एक अत्यन्त मनोहर कहानी सुनाई। बापू के जन्म-दिवस के अवसर पर एक सज्जन उनके पास अन्य उपहार-सामग्रियों के साथ एक साड़ी भी लाये। साड़ी देखकर बापू ने हँसते हुए कहा—"क्या अब मुझे साड़ी भी पहननी पड़ेगी ?" सब लोग हँस पड़े। उस सज्जन ने कहा—"यह बा के लिए है।" "तो इसे बा के जन्म-दिन पर देना चाहिए था"—बापू ने फिर हँसते हुए कहा और फिर बोले—"लेकिन उस बेचारी को तो यह मालूम नहीं कि उसका जन्म-दिन कौन-सा है।" बा भी वहीं थीं, कुछ झेंप गईं। फिर बापू ने कहा—"किन्तु, तुम हो मुझसे बड़ी, इसमें तो कोई शक ही नहीं।" इतना कहकर वह जोरों से खिलखिला पड़े और सारी कुटिया हँसी से ओत-प्रोत हो गई।

बा उम्र में बापू से बड़ी थीं या छोटी, इसका निर्णय उन दोनों के सिवा कौन कर सकता था ? किन्तु, जिस तरह छाया कभी-कभी मनुष्य से भी बड़ी हो जाती है, उसी तरह नारी-आदर्श की दृष्टि से बा का चरित बहुत ही महान् था, इसे तो बापू ने भी कई बार स्वीकार किया था।

बा की कुटिया में एक चित्र है। बापू बाहर से थके-हारे आये हैं और कुर्सी पर बैठ गए हैं और बा पानी लेकर उनके पैर पखार रही हैं। यही भारतीय नारी है। ओ सभ्यता के चकाचौंध में भूली हुई हमारी बहनो ! तुम उन्हें गंवार कह लो; किन्तु भारतीय इतिहास ऐसी ही नारियों के चरित्र-चित्रण से पूत-पवित्र है।

बा की कुटिया के सामने खुला मैदान है। वहीं बापू की प्रार्थना होती थी। कीचड़ और धूल से बचने के लिए मैदान में छोटे-छोटे चिकने कंकड़ डाल दिये गए हैं। मैदान के बीच लकड़ी के दो खूंटे हैं। मुझे आश्चर्य हुआ, यह क्या है ! पता चला, प्रार्थना के समय इन्हीं खूंटों से लगाकर एक चौड़ा तकिया रख लिया जाता था और बापू उसीके सहारे बैठते थे।

बा की कुटिया के बगल में रसोई-घर है। उससे थोड़ा हटकर ईंट

का एक डार्क-रूम है, जिसे बापू ने कनु गांधी के लिए फोटो तैयार करने को बनवा दिया था। बापू की कुटिया के आगे एक और कुटिया है, जो पहले अतिथि-निवास था; किन्तु अब आखिरी-निवास कहलाता है; क्योंकि सेवाग्राम छोड़ने के पहले बापू ने इसी घर में विश्राम किया था। अब इस घर में विनोबाजी आकर ठहरते हैं। अपने भूदान-यज्ञ के सिलसिले में इसे छोड़ने के पहले उन्होंने उसके बगल के खेत में कुछ केले लगाये थे। उनके पेड़ अब बढ़कर जवान हो गए हैं। कितने हरे-भरे और सुहावने लगते हैं !

आज न बापू हैं, न बा हैं, न महादेवभाई हैं। अतिथिशाला, आखिरी-निवास, सब सूने-सूने हैं। किन्तु ऋषियों को खोकर भी तीर्थ-स्थान अपना महत्व नहीं खो सके, और न यह स्थान ही अपना महत्व खो सकेगा; बल्कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा, उसके कण-कण महत्व प्राप्त करते जायंगे।

बापू की इस कुटिया के चारों ओर कुटियों की एक पूरी बस्ती ही बस गई है। फूल-फल, पेड़-पौधों की भरमार है। सचमुच लगता है—ऋषियों की तपोभूमि बहुत-कुछ ऐसी ही होगी। धन्य थी वह घड़ी, जब बापू अपनी लकुटी लिये इस स्थान पर पहले-पहल पधारे ! जो सदियों का सेगाँव था, वह सेवाग्राम में परिणत हो गया !

अभी-अभी भोजन-घर में भोजन करने गया था। वहां भारत के कोने-कोने का प्रतिनिधित्व करने वाले नाना तरह के चेहरों के दर्शन हुए--स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े, जवान। लगभग एक दर्जन विदेशी भाई-बहनें भी पीढ़ियों पर बैठकर खा रहे थे। आर्यनायकम्‌जी से पूछने पर पता चला, वे लोग भिन्न-भिन्न देशों से आये हैं और ऐसे लोगों का तांता लगा ही रहता है। आज जब वर्धा से आ रहा था, देखा, दो गोरे नौजवान, भ्रमणार्थियों के थैले पीठ पर बांधे, यहाँ से लौट रहे हैं। उन्होंने हमें देखते ही भारतीय ढंग से नमस्कार किया। ये विदेशी भाई-बहनें भी भारतीय ढंग से ही रोटियों को हाथ से तोड़-तोड़कर खा रहे थे।

दर्शक-पुस्तिका में देख आया हूं—तरह-तरह की लिपियां, तरह-तरह की लिखावटें, तरह-तरह की भाषाएं, तरह-तरह की बातें। एक कवि ने

अंग्रेजी में एक छोटी-सी कविता ही लिख डाली है। उस छोटी-सी कविता में भी यहां का वातावरण कैसा सजीव हो उठा है !

घड़ी कहती है—दो घंटे बीत चुके । ये दो घंटे यहां कैसे बीत गये ? मन कहता है, अभी कुछ देर ठहरो। कार्य-व्यवस्था कहती है, चलो, हटो यहां से। दूर से पंडुक पुकार रहा है—कु कूं-कूं, कु कूं-कूं। अरे-अरे, क्या जल्दी पड़ी है भागने की ? क्या तृप्ति मिल गई ? और यह लीजिये, पंडुक का एक जोड़ा फिर हरसिंगार की डाल पर आ बैठा। कैसी चकित दृष्टि से वे मेरी ओर देख रहे हैं ! क्या वे कह रहे हैं—यहां बहुत लोग आते हैं, किन्तु कोई तुम्हारे ऐसा धरना तो नहीं देता ! और, फिर यह कर क्या रहे हो—उजले कागज पर ये क्या काली-काली लकीरें खींचते जा रहे हो ? जाओ, हमारे इस एकान्त-राज्य पर यों दखल मत जमाओ—भागो, भागो !

हां भई, भाग रहा हूं। जिसे यहां सदा रहना था, जब वही एक दिन इसे छोड़कर चल दिया, तब मुझ-जैसे पथिक की क्या बिसात, जो यहां ठहर सके ! जाता हूं, ओ पंछी के जोड़े, जाता हूं ! तुम यहां निर्द्वंद्व उड़ान भरते रहो, किलोल करते रहो। बापू की इस कुटिया की धूल सर पर चढ़ाते हुए तुम्हारे ही शब्दों में तुम्हें भी सलाम दे रहा हूं—कु कूं-कूं ! कु कूं-कू !

: २ :

प्रेमचन्द अमर हों !

काशी, कम्पनीबाग के निकट का वह चौराहा। एक साधारण-सा व्यक्ति खड़ा। कद, पोशाक, खड़े होने का ढंग—सभी साधारण। सिर खाली। विशुद्ध आर्यत्व की वंश-परम्परा सूचक ललाई अभी नहीं खोई, वैसे अस्त-व्यस्त बाल, हवा के झोंके से उड़ रहे। जिन्दगी की कितनी धूप-छाँहों के चिह्न लिये गोरा चेहरा ! ललाट में कितनी सीधी रेखाएं—गालों पर कितनी सिकुड़नें ! बे-तरतीब-सी मूंछें। दाढ़ी मानो कई दिनों से नाई की प्रतीक्षा में। शरीर में कमीज, जिसके ऊपर के दो बटन खुले हुए। एक हाथ में छाता। एक हाथ से वह उड़-उड़कर ललाट से छेड़खानी करने वाले बालों को सम्हालें या बिगड़ैल मूछों को। साफ-सी दीखनेवाली धोती। साधारण-सा ही जूता।

वह उत्सुक आँखों से एक ऐसे इक्के की तलाश में है, जिसपर सवारी की एक ही जगह बची हो और जो छावनी की ओर जाता हो।

जब भाई शिवपूजनजी ने बताया कि यही हैं हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी, तब मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ; क्योंकि उस समय मैंने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया ही था और इसे सोने और शहद से भरा-पूरा समझ रखा था। उपन्यास-सम्राट् और इस सीधे-सादे वेश में ! यह तो अब समझ रहा हूं कि लक्ष्मी और सरस्वती की सौतिया-डाहवाली नानी की कहानी में कितना सत्य है !

इसके बाद लगभग दो वर्षों तक प्रेमचन्दजी से प्रायः भेंट होती। मैं 'बालक' के सम्पादन और छपाई के सिलसिले में ज्यादातर काशी ही रहता और प्रेमचन्दजी वहीं अपना सरस्वती प्रेस चलाते। प्रेस की हालत अच्छी नहीं थी। प्रेमचन्दजी उसे ठिकाने पर लाने के लिए काफी मेहनत करते। दस बजे दिन से शाम तक जुटे रहते। मेरा खयाल है, किसी अच्छे सहकारी या सेवक के अभाव के कारण अत्यधिक मेहनत

और चिन्ता करने से ही प्रेमचन्द पर मृत्यु का वार इतना जल्द हो सका। सचमुच जब कभी सोचता हूं कि प्रेमचन्द जैसे कलाकार को भी तंगदस्ती और झंझटों से लड़ाइयां करनी पड़ीं, तब अपने साहित्य के विकास की अवस्था का अन्दाजा लगा पाता हूं। उफ़, अभी हमारे लिए दिल्ली बहुत दूर है !

उस पहली मुलाकात से, करीब-करीब उनकी मृत्यु के कुछ दिनों पहले तक, मेरी उनकी अच्छी जान-पहचान रही, खत-किताबत रही और जब-तब उनके दर्शन भी कर आता।

उनके प्रति मेरे वही भाव थे, जो किसी देवता के प्रति उसके पुजारी के होते हैं। मैं उन्हें हिन्दी की साहित्य-कला का साक्षात् अवतार मानता और उस कला के एक उपासक की तरह अवतार की मानसिक पूजा करता। यही कारण है कि मैं उनके मित्र की तरह उनके दिल में बैठकर उन बातों को नहीं ले पाया, जिनके आधार पर उनके मनस्तत्व की अच्छी-सी तस्वीर खींच सकूं। उनके बारे में मैं ज्यादा-से-ज्यादा जो कह सकता हूं, वह यही कि आत्मा से साधारण-सा दीख पड़नेवाला वह आदमी, आदमी की हैसियत से भी, साधारण नहीं था। उसकी इस साधारण-सी सूरत-शकल के अन्दर एक महान् आत्मा छिपी थी। आप उसे गुदड़ी में लाल कहो, या मेरी भाषा में, राख से ढकी चिनगारी कहो। सभी महान पुरुषों की तरह वह सीधा-सादा था, इसीलिए वह सदा झंझटों में रहा, लोगों ने उससे फायदे उठाए, उसे धोखे तक दिए; वरना वह भी एक ठाठ की जिन्दगी बसर करता, दुनिया की नजरें उसकी चकाचौंध का लोहा मानतीं। किन्तु उसके इस सीधेपन में एक बांकपन भी था, जो सभी असाधारण पुरुषों में पाया जाता है। इसी बांकपन ने उसे समाज, सरकार और पूंजीवाद से मोर्चे-पर-मोर्चे लेने को प्रेरित किया। उसके हाथ में कलम थी तो क्या हुआ, वह योद्धा था। जब उसने देखा, समाज उसके प्रेम-सम्बन्ध में बाधक हो रहा है, उसने उसे जमकर ठोकर लगाई। जब देखा, सरकार अनीति की राह पर बेधड़क बढ़ती जा रही है, उसने उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जब देखा, शुद्ध साहित्य के क्षेत्र में भी पूंजीवाद अपना विषैला प्रभाव जमाए जा

रहा है, उसने उसके खिलाफ युद्ध किया। अपना प्रेस, अपना प्रकाशन। क्या वह इनसे पैसे बटोरकर मालामाल होना चाहता था ! गलत बात। यदि यह कामना उसकी होती तो उसके प्रेस, पत्रिका और परिवार को हम किसी दूसरे ही रूप में देखते। मैं ऐसे लोगों को जानता हूं, जो रद्दी चीजों का प्रकाशन करके लखपति बन गए। फिर प्रेमचन्द का क्या कहना ! किन्तु यहां तो उसका बांकपन था—टूट जाय पर मुड़े नहीं, एक अड़, एक टेक !

उसकी महानता, उसकी असाधारणता की सबसे बड़ी सूचक है उसकी कला। हिन्दी-साहित्य की विकास-धारा की दूरी जानने के लिए जो कुछेक 'मील के पत्थर' हमें गिनने पड़ते हैं, उनमें एक को, जो हमारे सबसे निकट का है, हम प्रेमचन्द के नाम से अभिहित कर सकते हैं। हिन्दी के इतिहास-लेखकों ने हमारे साहित्य के काल-निर्देश में मन-माने ढंग से काम लिया है, उसकी कोई वैज्ञानिक भित्ति नहीं। साहित्य हमारे समाज का दर्पण है। सरह से लेकर आजतक का हमारा साहित्य इन दस-बारह सौ वर्षों के हमारे समाज की जीती-जागती तस्वीर है। इसके दरम्यान समाज जिस तरह सोया, जिस तरह करवटें बदलीं, कभी उठा, कभी फिर चादर तानकर सो गया, ठोकरों ने जिस तरह उसे फिर जगाया और आज वह जिस कशमकश में है, सबके अलग-अलग चित्र हमारे साहित्य में भरे पड़े हैं। सरह, चन्द, विद्यापति, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण, हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द—जिस दिन आप अपने साहित्य का काल-विभाग वैज्ञानिक भित्ति पर करेंगे, इन्हींको आधार मानकर आपको चलना पड़ेगा। सरह—हमारा समाज बौद्ध-धर्म से हट-कर तंत्रवाद का पूजक है—दुनिया रहस्यमय, सबसे रहस्यमयी नारी। चन्द—बौद्ध-धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में क्षात्रधर्म, किन्तु विलासिता साथ-साथ। विद्यापति—हिन्दूधर्म राज्य से वंचित, विलासिता में डूबा। कबीर—पराजय को समन्वय में बदलने की चेष्टा। तुलसी—नश्वरता पर भक्ति का पुट। सूर—भक्ति में शृंगार का पुट। बिहारी—शृंगार ही शृंगार, यानी विलास का घोर दौर-दौरा। भूषण—फिर एक जागरण, किन्तु क्षणिक। हरिश्चन्द्र—एक नई शक्ति ने नई ठोकरें लगाईं, 'जागो,

जागो रे भाई' की पुकार। प्रेमचन्द—हमारे पीड़ित समाज में एक नये वर्ग की अगवानी की सूचना। और, चूंकि यह नया वर्ग एक बिल्कुल नये समाज के पुनर्गठन की सूचना देता है, अत: इनमें भी प्रेमचन्द की महत्ता कहीं अधिक व्यापक है। सरह से लेकर हरिश्चन्द्र तक यद्यपि कितने ही उत्थान-पतन हुए हैं, तथापि इनका नेतृत्व एक ही वर्ग के हाथ में रहा है। प्रेमचन्द की रचनाएं एक बिल्कुल नये वर्ग के नेतृत्व का आभास देती हैं। अतः, यह भी सम्भव है कि जब कुछ शताब्दी बाद हिन्दी का इतिहास लिखा जाय तो हमारे साहित्य को दो ही भागों में बांटा जाय—एक वह, जिसका प्रारम्भ सरह से होता है और दूसरा वह, जिसका प्रारम्भ प्रेमचन्द से होता है।

मैं जानता हूं, कुछ लोग मेरे इस काल-विभाग पर नाक-भौं सिकोड़ेंगे। कुछ लोग कहेंगे—प्रेमचन्दजी के बारे में यह अतिशयोक्ति मैं उनकी मृत्यु-जनित भावुकता के कारण कर रहा हूं। मैं मानता हूं, प्रेमचन्दजी के प्रति मेरी भक्ति भावुकता से खाली नहीं है। भावुकता को मैं ऐसी बुरी चीज नही मानता कि अपनेको उससे बचाऊं। मैं यह भी मानता हूं, उनकी मृत्यु ने मुझे बहुत ही मर्माहत किया। किन्तु यह निश्चय जानिये, मेरा उपर्युक्त कथन भावुक भक्त की आवेश-वाणी मात्र नहीं, उसमें तथ्य है। हां, इस तथ्य को जानने के लिए आपको साहित्य, कला, नीति आदि को एक नई नज़र से देखना-परखना होगा। पर, यह स्थान नहीं कि उस संबंध में कुछ विस्तार से कह सकूं।

संक्षेप में यों समझिये। हमारे हिन्दी-साहित्य का जन्म उस समय हुआ जब भारत सामन्तशाही युग से गुज़र रहा था। संयोगवश देशी सामन्तशाही बहुत बिखरी, ढीलीढाली थी। कुछ विदेशी कबीले इस पर टूटे। दोनों लड़े। विदेशियों की विजय हुई। किन्तु जहां उनकी तलवार जीती, वहां हारे हुए लोगों की तहज़ीब ने उनपर विजय प्राप्त की। तहज़ीब—सामंतशाही तहज़ीब। कुछ दिनों तक लोगों में खूब घुटी। पर फिर कशमकश शुरू हुई। इतने में एक तीसरी शक्ति कूद पड़ी। वह इन दोनों से मजबूत थी; क्योंकि वह उनके युग से गुजरकर आगे के युग में पैर रख चुकी थी; यानी, यह तीसरी, सामन्तशाही के बाद के

वर्ग, पूंजीशाही, का प्रतिनिधित्व करती थी। पूंजीशाही जीती, सामंतशाही हारी। पूंजीशाही के दौरदौरे शुरू हुए। उसने सामंतशाही की ठठरी कहीं-कहीं भले ही रख छोड़ी हो, किन्तु उसने उसका सत्त जरा भी नहीं छोड़ा। यही नहीं, इस पूंजीशाही का पेट केवल इतने ही से नहीं भर सकता था, उसने प्रत्यक्ष शोषरण शुरू किया, जिसका फल हुआ देश में ऐसे वर्गों का उदय, जो थे तो अनादि-काल से ही, किन्तु जिनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं गया था। पूंजीशाही जिस प्रकार सामन्तशाही की ही पितृ-भक्त औलाद है, उसी तरह मजूर-किसान-वर्ग पूंजीशाही की पितृ-घाती सन्तान है।

अब अपने साहित्य को देखिये। वह आजतक सामन्तशाही को ही केन्द्र-बिन्दु मानकर अपना क्रीड़ा-कौतुक दिखाता रहा। चाहे हम किसी दशरथ राजा के बेटे की गाथा गाएं या किसी शाहजी के पुत्र शिवाजी की, शिवसिंह हों या पृथ्वीराज, थे तो एक ही वर्ग के। जयपुर-नरेश हों या कोई अन्य नरेश-महेश, यदि कोई नहीं मिला तो स्वयं बेचारे श्रीकृष्ण तो हैं ही, उन्हींके सिर पर खेल लीजिए। पर इन सबके बीच एक ही वर्ग का सिलसिला है—स्थान, काल, पात्र से थोडे विभेद के अनुसार। किन्तु उस युग का तो खात्मा हो गया। अब तो युग पूंजीशाही का है। पूंजीशाही का यश गाइये या उसकी विद्रोही सन्तान किसान-मजूर का। यदि आप प्रगतिशील हैं तो आप किसान-मजूर को ही अपना पात्र बनायेंगे। प्रेमचन्दजी ने यही किया। यही उनकी कला की सबसे बड़ी खूबी है, जो उन्हें सदा के लिए अमर रखेगी। इस दृष्टि से देखिये, तभी आपको यथार्थ रूप में मालूम हो सकेगा कि प्रेमचन्दजी कितने महान्, कितने असाधारण थे! आप उन्हें साहित्यिक नवयुग का अग्रदूत मजे में कह सकते हैं।

और जब आप यह देखेंगे कि इस वर्ग के इस प्रथम कलाकार ने ही अपनी कला को कितना मोहक, आकर्षक और रंगीन बना पाया, तब तो आपको और भी ताज्जुब होगा। जिन्हें हम गूंगा-मूक समझते थे, उन्हें उसने जुबान दी; जिन्हें हम अन्धा-सूर समझते थे, उनकी आंखों को उसने नूर दिया। झोंपड़ियों की कौन बात, खेत की मेंड़ पर

बनी मड़ैयों तक को उसने बोलना, हँसना, प्यार करना, रोना, सिखलाया। हमारे विविधतापूर्ण समाज की इस निचली तह में भी विविधता की कमी नहीं, प्रेमचन्द की कला ने स्पष्ट कर दिया। उनकी कहानियां देखिये, पता चल जायगा। उनकी अन्तिम रचना 'गोदान' के एक-एक पात्र—स्त्री और पुरुष—इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। गरीबों के भी दिल होते हैं, वे भी प्रेम करते हैं, प्रेम के लिए कुर्बानियां करते हैं, उनमें भी सहानुभूति और समवेदना होती है, जो धनिकों की सहानुभूति और समवेदना की तरह उथली, केवल जुबान की, नहीं होती। उनमें भी मान और सम्मान का खयाल होता है और उसपर आघात किया जाय तो जान लड़ाकर भी वे उसकी रक्षा करते हैं। हां, जिन्हें हम नर-कंकाल समझते हैं, उनमें भी जोश है, गरम खून है, प्रतिरोध की भावना है, लड़ने की ताकत है, बलिदान का माद्दा है, इत्यादि बातें आप प्रेमचन्द जी की कला में भरी पड़ी पायंगे।

प्रेमचन्द उस युग में हुए, जब हमारा समाज, हमारा देश एक बड़े संक्रांति-काल से गुजर रहा था। बड़ी-छोटी शक्तियां आपस में टकरा रही थीं, जिनकी टक्कर वायु-मण्डल को बेतरह विक्षुब्ध किये हुए थी। कभी एक खास जगह में एक महाभारत हुआ था। आज तो ऐसे महा-भारत, संसार को छोड़िये, हमारे देश के कोने-कोने में हो रहे हैं। इन महाभारतों के सजीव चित्रण के लिए हमें एक वेदव्यास चाहिए था। प्रेमचन्द हमारे इस युग के वेदव्यास थे। 'सेवा-सदन' से 'गोदान' तक पढ़ जाना, हमारे इस युग के इतिहास को पढ़ जाना है। वैसा इतिहास, जो तारीखों और व्यक्तियों पर निर्भर न करके, उस अन्तर्धारा का सजीव चित्रण करता है, जो समाज की रीढ़ है।

उस साधारण झुर्रीदार चेहरे के अन्दर, बेतरतीब मूंछ और उभड़ी-सी भवों के बीच जो मामूली आंखें थीं, वे कितनी सूक्ष्मदर्शी, पारदर्शी थीं, इसका पता तब लगता है जब हम उनके पात्रों पर विचार करते हैं। राजकुमार से लेकर भिखमंगों तक, खूंखार सरहदी से लेकर भोलेभाले किसान तक, खानाबदोश जिप्सियों की शोख औरतों से लेकर शत-शत आंखों पर नृत्यशील नर्तकियों तक—अजी, केवल मानवों

की क्या बात, घोड़ों-बैलों तक को उसने अपनी रचनाओं का पात्र बनाया; किन्तु उसका चरित्र-चित्रण कितना सच्चा, कितना स्वाभाविक, कितना सजीव हुआ है ! पूंजीपति, जमीदार, किसान, मजदूर, हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, बूढ़ा, जवान, बच्चा, खोमचेवाला, कलन्दर, संपेरा, दानी-सूम, राजा-रंक, गृहिणी-भिखमंगिन, ब्राह्मण-चमार, होली-ईद, अट्टालिका-झोपड़ी, जो जहां है, अपनी जगह पर है, अपनेपन के साथ है। कहीं भी अस्वाभाविकता, बनावट का नाम नहीं। यदि इस दृष्टि से देखिये, तो संसार के कलाकारों में वह अपनी एक खास जगह रखते हैं।

प्रेमचंद को, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल कलाकार का नहीं, एक योद्धा का जीवन भी व्यतीत करना पड़ा। उनका बहुत-सा समय इस युद्ध में ही बीता। जब मैं उन्हें दस बजे से पांच बजे तक प्रूफ देखते, या प्रेस की दूसरी झंझटों को सुलझाते देखता, फिर उनकी रचनाओं को देखता, तो मुझे आश्चर्य होता कि वह कब समय बचाते हैं जो इतना लिख पाते हैं ! उनका ऐसा बहुत कम समय बीता, जब एक-साहित्य-निर्माण ही उनका पेशा रहा हो। कभी स्कूल-मास्टरी, कभी प्रेस-मैनेजरी, कभी सम्पादकी, कभी फिल्म-निर्माता, यों सदा किसी-न-किसी पेशे में वह जुते रहे। तो भी, यदि उनकी कृतियों को आप परिमाण के खयाल से भी देखिये तो आश्चर्य होगा। मालूम होता है, उनके इस छोटे शरीर का ज़र्रा-ज़र्रा साक्षात् प्रतिभा था। यों तो उनकी स्वतंत्र, मौलिक रचनाएं भी आजकल के हमारे किसी साहित्यकार की कृतियों से, परिमाण के खयाल से भी, बाजी मार सकती हैं, फिर यदि हम उसमें उनके द्वारा अनूदित और संकलित ग्रन्थों को भी जोड़ दें तो वह अनायास ही बेजोड़ बन जाता है।

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों और कहानियों के लिए मशहूर हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यासों की अपेक्षा वह कहानी लिखने में ज्यादा सफल हुए। ऐसे ही कुछ लोग कहा करते हैं कि उनकी कुछ चीजें बहुत ही शिथिल और उनके नाम के अनुरूप नहीं। पहली बात का जवाब देना फिज़ूल है। यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। कोई छोटी चीजें पसन्द करता है, किसी की तृप्ति बड़ी चीज़ों से होती है। एक

बात और भी है । प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं । हमारी समस्याओं को लेकर उन्हें उनके यथार्थ रूप में दिखाना, उन समस्याओं से उत्पन्न गुत्थिओं को अलग-अलग करके समझाना और फिर उन गुत्थियों के सुलझाव का अपना एक तरीका पेश करना प्रमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों का यह मूल उद्देश्य है । दृष्टिकोण के भेद से समस्याओं के रूप, फल और सुलझाव के बारे में भिन्न-भिन्न रायें हो सकती हैं । उन रायों की विभिन्नता से उपन्यासकार की प्रतिपादन-प्रणाली पर हमें सहानुभूति या विरक्ति भी हो सकती है । फलतः उन उपन्यासों के बारे में रायें भी अलग-अलग हो सकती हैं । किन्तु उपन्यासकार की सफलता उसकी कृतियों के विषय पर निर्भर नहीं माननी चाहिए । उसकी सफलता की मुख्य कसौटी है चरित्र-चित्रण । 'सुमन' (सेवासदन), 'सूरदास' (रंगभूमि) या 'होरी' (गोदान) की जिन्दगी की फिलासफी पर मत जाइये; देखिये, जहां जिस रूप में इनके कार्य हुए हैं, उनमें अस्वाभाविकता तो नहीं है । और, इसमें भी एक बात तो खयाल में रखिये ही कि प्रेमचन्द 'कला कला के लिए' वाले बेसिर-पैर के जीव नहीं थे; वे आदर्शवादी लेखक थे, अतः साधारण कमजोरियों से अपने पात्रों को ऊपर उठाए रखना उनका कर्तव्य था ।

अब दूसरी बात पर आइये । उनकी कुछ रचनाएं मामूली हैं । मैं भी इस बात को मानता हूं । कभी-कभी मुझे भी इस बात पर झिझक हुई है । किन्तु इसमें एक बात याद रखनी है कि प्रेमचन्दजी को किस परिस्थिति में रहकर ये रचनाएं रचनी पड़ीं । एक तरफ जीवन-युद्ध की वह झकझोर, दूसरी ओर आवश्यकताओं की चाबुकबाजी और तीसरी तरफ मानो जले पर नमक, हम और आप-जैसे वे लोग, जो अपनी पत्र-पत्रिकाओं के नाम और गरिमा को ऊपर उठाए रखने के लिए, मुफ्त लिखने को, तकाजे के मारे उनका नाकों दम किये रहते !

प्रेमचन्द की कला, जैसा कि पहले कह चुका हूं, हमारे साहित्य के उस क्षेत्र में प्रवेश करने की सूचना है, जो अबतक अछूता रहा । यदि हम पारिभाषिक शब्दों की शरण लें तो प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम जन-साहित्य-निर्माता थे । हमारा साहित्य आज तक जमातों का चरण-चुम्बन

करता रहा, अब वह जनता को अपना जीवन-संगी बनाने जा रहा है। प्रेमचन्द हमारे साहित्य के इस महान् विच्छेद के स्तूप थे। इस बात ने जहां उन्हें साहित्यिक विकास के इतिहास में एक अनुपम स्थान दे रखा है, वहां इसके चलते उनकी रचनाओं में एक गड़बड़झाला भी है, जिसे हम लोग, जो उनके साहित्यिक वंशधर हैं, न भूलें। स्वभावतः और मुख्यतः प्रेमचन्दजी जन-साहित्य के निर्माता थे, किन्तु उनकी रचनाओं में हम सामन्तशाही युग की कुछ अस्फुट झलक भी पाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। हमारी जनता में अबतक की चेतना उतनी प्रस्फुटित नहीं हुई है और न हम जनसेवियों का आदर्शवाद ही उतना निखर पाया है कि इसके पूर्व युग के अवशिष्टांश की कोई छाया हम पर न पड़े। अतः हमारी रचनाओं में कुछ ऐसा गड़बड़झाला होना कोई गैरमामूली बात नहीं। मैंने स्वयं प्रेमचन्दजी से इसकी चर्चा की थी। उन्होंने अपनी नई रचना 'गोदान' तक प्रतीक्षा करने का मुझे आदेश दिया था। 'गोदान' निस्सन्देह इस दृष्टि से उनकी पूर्व रचनाओं पर तरजीह पाने योग्य है, किन्तु वहां भी वह 'निखार' नहीं। जो लोग जन-साहित्य के निर्माण में प्रेमचन्दजी के पद-चिह्नों पर चलनेवाले हैं, उन्हें चाहिए कि अपने उस महान् नेता के अधूरे काम को उसके अनिवार्य परिणाम तक पहुंचायें।

यहां एक बात की और चर्चा कर देना जरूरी है। वह है भाषा के बारे में। प्रेमचन्द ने हमें केवल जनता का साहित्य ही नहीं दिया, वरन् वह साहित्य कैसी भाषा में लिखा जाना चाहिए, उसका भी पथ-निर्देश किया। जनता द्वारा बोले जानेवाले कितने ही शब्दों को, उनकी कुटिया-मड़ैया से घसीटकर वह सरस्वती-मंदिर में लाये और इसी प्रकार कितने ही अनधिकारी शब्दों को, जो केवल बड़प्पन का बोझ लिये हमारे सिर पर सवार थे, इस मंदिर से निकाल बाहर किया। हमें इस पथ पर भी आगे बढ़ना है।

इसलिए कहता हूं—प्रेमचन्द अमर हों, अमर हो उनकी भावना, अमर हो उनकी भाषा !

: ३ :

बरनार्ड शॉ : उन्हींके शब्दों में

"सभी आत्मकथाएं झूठी हैं।"—जिस व्यक्ति ने यह घोषणा बार-बार की, कितने आश्चर्य की बात है, उसको, विरोधियों द्वारा उत्तेजित किये जाने पर, या मित्रों द्वारा बार-बार आग्रह किये जाने पर, अपने बारे में इतना कह जाना पड़ा कि यदि उन सबको एकत्र कर दिया जाय, तो एक उच्च श्रेणी की आत्मकथा बन जाए! हाल में 'सोलह आत्मचित्र' के नाम से उसने एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई और फिर बतलाया कि उसने अपनी आत्मकथा क्यों नहीं लिखी।—"मैंने न किसी की हत्या की, न कोई अघट घटना मेरे जीवन में घटी! फिर आत्मकथा में लिखा क्या जाय? और आत्मकथा को पठनीय होने के लिए कलात्मक तो होना ही चाहिए।" वह मानता है कि सर्वोत्तम अत्मकथा वही है जिसमें आत्म-निवेदन हो, अपने पापों की स्वीकृति हो। किन्तु क्या यह सबके लिए सम्भव है? कोई रूसो, कोई गांधी ही ऐसा कर सकता है। साधारण-तया आत्म-निवेदन के नाम पर लोग अपने पापों पर पर्दा ही डालते हैं। अतः कोई सिलसिलेवार आत्मकथा लिखने से उसने अपनेको सदा बचाया। 'आत्मचित्र' में उसने उन बातों पर ही प्रकाश डाला "जो या तो छोड़ दी गई थीं या जिनके बारे में गलतफहमियां पैदा हो गई थीं।"

शॉ यह भी समझता था कि कलाकार आत्मगोपन भी नहीं कर सकता। मानव और प्रकृति के गहन रहस्यों का उद्घाटन ही जिसका पेशा है, वह अपने बारे में चुप रहे! असम्भव! वह अपनेको प्रकट करता है; प्रतिदिन, प्रतिक्षण प्रकट करता है, किन्तु आत्मकथा के रूप में नहीं, अपनी कृतियों के रूप में। "मेरे सम्बन्ध में जो चीजें देने लायक हैं, उन्हें या तो मैंने पुस्तकों की अलमारियों में धर दिया है या रंगमंचों पर! जो सुनने लायक थीं, सुनाई जा चुकी हैं।" वह ठीक ही पूछता है कि शेक्सपियर से उसका 'हैमलेट' छीन लो और उसके बदले उसके

जन्म की घड़ी से मृत्युपर्यन्त की एक रंगीन तस्वीर बना लो, तो क्या यह पिछला शेक्सपियर पहले शेक्सपियर से ज्यादा आकर्षक और दिलचस्प होगा ?

किन्तु एक विशाल वट-वृक्ष की हरी-हरी पत्तियों, लम्बी-लम्बी जटाओं और मोटी-मोटी डालों को ही देखकर मानव का मन तृप्त नहीं हो जाता ! उसमें उत्कंठा जगती है उसकी जड़ें देखने को—जो इन सबकी आधार हैं। कुदाल चलाना कठिन काम है, वृक्ष को क्षमा मिल जाती है। किन्तु महापुरुष—वह बेचारा ! प्रश्नों की बौछार, फिर झूठी-सही अटकलबाजियां ! चुप वह रहे तो कैसे ! उसे बोलना पड़ता है, रहस्य खोलना पड़ता है। इससे भी लोगों ने इसी प्रकार रहस्य खुलवाए। और, यह साहित्य के लिए अच्छा ही हुआ। इस युग का जो सबसे महान साहित्यिक था, उसके बारे में हम इतना अधिक जान सके।

ये सामग्रियां जहां-तहां बिखरी पड़ी हैं। उन्ही में से कुछ को चुनकर, सजाकर ये गुलदस्ते बने हैं। देखिये तो – बरनार्ड शॉ को शॉ के ही शब्दों में—

पालने में

मेरे पहले जीवनी-लेखक मेरे पिता थे, श्री जार्जकार शॉ। साझे में गल्ले का व्यापार करते थे, सफल व्यापारी न थे, क्योंकि मुल्की हाकिम थे, पेंशन बेचकर यह व्यापार शुरू किया। अधेड़ होने पर शादी की—तीन बच्चे हुए। आखिरी बच्चा मैं—जार्ज बरनार्ड !

१८५७ की जुलाई में मेरी मां अपने मैके गई। मैं एक वर्ष का था—बौब कहलाता था ! पिता ने मां को पत्रों में मेरे बारे में लिखा था—

"१७ जुलाई १८५७ : बेचारे के पेट में रात जोरों का दर्द शुरू हुआ, किन्तु भोर में वही चपलता, हँसी-खुशी। किशमिश कुछ ज्यादा खा ली थीं।

"२० जुलाई : शैतान दिन-दिन बदमाश होता जा रहा है। भोर में सांड़ की तरह डकारता और हांफता है। ऐसा लगता है, तुम लौटोगी तो

यह दौड़कर गली की मोड़ पर ही तुमसे जा मिलेगा।

"२४ जुलाई : बौब ने कल अपने टोप को टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

"२७ जुलाई : बौब के लिए नया टोप खरीद दिया गया, १०) लगे। उसका जन्मदिन है न ! कुछ ज्यादा खर्च हुए तो क्या ! कल बौब अपनी बहन के साथ बिछावन से गिर गया—सिर के बल, किन्तु चोट नहीं आई।

"रविवार की भोर : बौब कुछ देर मेरे साथ बिछावन पर रहा, फिर उसने जलपान किया। एक पछाड़ आज भी खाई, किन्तु थोड़ी देर चिल्लाने के बाद फिर हँस रहा है।

"३० जुलाई : बौब की शैतानी बढ़ती जा रही है।

"३ अगस्त : बड़ी निराशा होगी, यदि बौब तुम्हारी चिट्ठी हाथ में लिये मेरे निकट न आ पहुंचे और उससे चिट्ठी लेने में छीना-झपटी न करनी पड़े। इस छोटे-से शैतान ने आज अखबार फाड़ दिये।

"७ अगस्त : धाई कह रही थी, बौब ने दौड़-दौड़कर उसे थका दिया। वह बिना सहायता के भी दौड़ा-दौड़ा फिरता है।

"११ अगस्त : मंगलवार को बेचारा बौब बाल-बाल बचा। वह रसोईघर की टेबल पर बैठा था, धाई भी वहां थी। वह बेचारी फर्श पर से कुछ चीज उठाने गई कि वह धड़ाम से सिर के बल गिर पड़ा। उसका सिर शीशे के छेद से होकर लोहे की छड़ से जा टकराया, किन्तु आश्चर्य कि जरा भी खरोंच नहीं लगी !

"१५ अगस्त : बौब के दांत जम रहे हैं। बहुत परेशान है—रात-दिन बेचैन।"

लालन-पालन

मेरे साथ बुरा व्यवहार कभी नहीं किया गया, क्योंकि मेरे मां-बाप में निष्ठुरता का लेश भी न था; लेकिन यह भी सही है कि मेरी चिंता उन्हें नहीं थी। इसका फल यह हुआ कि मुझमें प्रारम्भ से ही एक भयानक ढंग की आत्म-निर्भरता आई और मुझको सपनों के भोज में भूखा रहने की आदत पड़ गई। सम्भव है, इससे मेरे विकास में बाधा

पड़ी हो और आज भी जो मुझमें विशुद्ध प्यार का अभाव है, इसका कारण यही हो।

रसोईघर में ही मैं खाना खाता। उबाला हुआ मांस मुझे ज़रा भी पसंद नहीं था। अधपके आलू और खूब चाय। चीनी मैं चुरा लेता। मैं भूखा कभी नहीं रहा। मेरे पिता को अपने बचपन की असह्य भूख की याद थी, इसीलिए वह रोटी और मक्खन प्रचुर मात्रा में मेरी पहुंच की परिधि में रखवा देते।

नौकरों से मुझे घृणा थी और अपनी मां को मैं बहुत चाहता था। एकाध बार जब यह नायाब मौका आया, उन्होने जो रोटियां मुझे दीं उनपर मक्खन की मोटी तह थी। मुझसे वह बिलकुल तटस्थ रहतीं, इसलिए मैं उन्हें देवी समझता और उनके बिगाड़नेवाले संसर्गों के बचा रहा। जब एकाध बार वह अपने साथ टहलने को ले गई, मैंने अपना सौभाग्य समझा।

एक नौकरानी मुझे टहलाने को ले जाती। समझा तो यह जाता कि वह मुझे नहर-किनारे ले जाती है, या पुरुषों के मुहल्ले में, किन्तु वह ले जाती गरीबों की बस्तियों में, जहां उसके दोस्त रहते।...मेरे मन में गरीबी से घृणा यहीं से शुरू होती है। गरीबी दूर करने के लिए मैंने जो जीवन न्यौछावर किया, इसके मूल में यही है।

एक रात मेरे पिता मुझे टहलाने ले गए। उस समय मैं उनके घुटने के बराबर था। टहलते समय मेरे मन में एक विषाक्त शंका उत्पन्न हुई। मैं घर आया। माता से चुपके-चुपके कहा, "मां, पिताजी ने शायद शराब पी ली है।" "वह कब नहीं पीते!"—मां ने कहा।

वह चुराकर पीते थे। पीते समय भी लज्जा और ग्लानि अनुभव करते, तो भी पीते और ज़रा भी विरोध किया जाता तो गुस्से में चीजों को पटक देते, तोड़ देते। ऐसे आदमी पर रोया जाय, या हँसा जाय! हम लोग हँसी में उड़ा देते।

मेरी मां न कभी झगड़ा करती, न शिकायत करती, न बदला चुकाती, न भूलती। तुमने गलती की, तुम अपने रास्ते, मैं अपने रास्ते—मेरी मां की यही मनोवृत्ति थी। बच्चों से उसे घृणा नहीं रही। वह न

किसीसे घृणा करती, न प्यार। वह यह भी नहीं जानती थी कि बच्चे क्या खाते हैं, कैसे रखे जाते हैं। यह सब नौकर पर छोड़ दिया गया था।

कुछ लोग प्यार दिखाते हुए मेरे सिर को थपथपाते या मुझसे बच्चों की तरह बातें करते। मुझे व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर यह आघात मालूम होता और इस बनावटीपन पर गुस्सा आता। मुझे याद है कि मैं किस तरह ऐसी हरकतों के खिलाफ हो उठता!

जब मैं छोटा बच्चा था, रविवार को गिरजाघर में ले जाया जाता और चुपचाप बैठे रहने की अमानुषिक और मूर्खताभरी प्रथा का शिकार बनाया जाता था। बढ़िया-से-बढ़िया कपड़ा पहनकर उस अंधेरे, गन्दी हवा से भरे घर में मूर्ति की तरह बैठे रहो, जब बाहर इतनी सुन्दर भोर हो .. ऐसा बच्चा यह निर्णय कर ले कि बड़ा होने पर मैं इस घर मैं झांकूंगा नहीं, तो आश्चर्य क्या?

स्कूल की कैद में

मुझे कोई ऐसा समय याद नहीं, जब कोई छपा हुआ पृष्ठ मेरी समझ में न आया हो। मेरा विश्वास है, मै पढ़े-लिखे के रूप में ही पैदा हुआ था!

मेरी शिक्षिका मुझे और मेरी बहनों को कविताएं गाना सिखातीं, हम लोग हँस देते! वह मुझे अपनी उन अंगुलियों से मारती, जिनसे एक मक्खी भी नहीं मारी जा सकती! साथ ही यह भी बताती कि ऐसे मौक़ों पर मुझे रोना चाहिए और लज्जा अनुभव करनी चाहिए।

उसने मुझे जोड़, घटाव और गुणा तो सिखलाया, किन्तु भाग नहीं सिखा सकी। भाग मैंने स्कूल में सीखा और सच बात है कि एक यही चीज़ मैंने स्कूल में सीखी!

जब मैं स्कूल में भर्ती हुआ, मेरे जितना लैटिन व्याकरण कोई लड़का नहीं जानता था, लेकिन जब स्कूल छोड़ा, तबतक वह भी भूल चुका था!

स्कूल के लिए मैं घर पर कोई तैयारी न करता, इतना मैं आलसी

था और बहाना बनाने के लिए झूठ बोलने में मुझे ज़रा भी शर्म नहीं आती थी !

मुझमें प्रतियोगिता की भावना ही नहीं थी। न मैं इनाम चाहता, न नाम। इसलिए परीक्षा में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। अगर मैं जीतता तो अपने साथियों का दुःख मुझे खलता और हारता तो मेरे आत्म-सम्मान को चोट लगती !

मैं स्कूल में कुछ नहीं सीख सका—यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि मैं मानता हूं कि दिमाग पर कोई अप्राकृतिक प्रक्रिया उतनी ही बुरी है, जितनी देह पर। जिस विषय के सीखने की प्रवृत्ति नहीं हो, उसे सिखाना उतना ही बुरा है, जितना आदमी को भूसा खिलाना !

मुझे दुःख है कि मैं भाषाएं नहीं सीख पाया। मैंने कोशिश की और पाया कि साधारण आदमी संस्कृत उससे कम समय में सीख ले सकता है, जितनी देर में मैं कोई जर्मन-कोष खरीदूं।

मैं उन सबको अभिशाप दूंगा, जो मेरी पुस्तकों को स्कूल के लिए पाठ्य पुस्तकें बनायंगे और शेक्सपीयर की ही तरह मुझे बच्चों के लिए घृणा और डर की चीज़ बना देंगे। बच्चों को सताने के लिए मैंने नाटक नहीं लिखे !

स्कूल में गणित का महत्व हमें नहीं सिखाया जाता। बीजगणित के 'अ' 'ब' को मैं अंडा और बटेर समझता और 'स' को शून्य !

चार अंकों का कोई हिसाब मुझे दीजिये और दीजिये स्लेट और आधा घंटे का समय और ले लीजिये मुझसे गलत जवाब !

चौदह साल की उम्र तक मैं इसका सही जवाब नहीं दे सकता था कि जब डेढ़ पैसे में तीन पोठिये मिलती हैं तो ग्यारह पैसे में कितनी पोठियें मिल सकेंगी।

रेखागणित मुझे कष्ट नहीं देता।...लेकिन परीक्षा में समस्याएं न पूछकर उन्हें पुस्तकों की संख्याओं में पूछ दिया गया, मैं बेतरह फेल हुआ !

बस, साहित्य में ही मेरी प्रतिभा का कुछ परिचय स्कूल में मिला—लेख लिखने में मुझे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई थी; लेकिन उसकी भी कोई

कीमत नहीं थी, क्योंकि साहित्य की योग्यता के मानी थे लैटिन भाषा की जानकारी।

इतिहास में आयरलैंड की उपेक्षा की जाती, इंगलैण्ड को महत्व दिया जाता। मैं ठीक इससे उल्टा जवाब देता। लड़के आश्चर्य करते शिक्षक मुस्कराकर रह जाते!

स्कूल को मैं जेल कहता हूं—वह जेल से भी बुरा है। जेल में वार्डर या जेलर की लिखी हुई पुस्तकें तो नहीं पढ़ाई जातीं और उनके याद न करने पर कोड़े तो नहीं लगाये जाते! जेल में जबर्दस्ती बैठाकर उन बेवकूफों की बातें तो नहीं सुनने को मजबूर किया जाता, जो उन बातों को स्वयं न समझते हैं, न समझने की कोशिश करते हैं, फलतः जिनमें समझाने की न योग्यता होती है, न इच्छा! जेल में सिर्फ देह पर अत्याचार किया जाता है, दिमाग पर नहीं; साथ ही बदमाश कैदियों से रक्षा भी की जाती है। स्कूल में ऐसी कोई सुविधा नहीं।

१८७१ में जब मैं पंद्रह वर्ष का था, इस स्कूल-जेल से मुझे मुक्ति मिली!

घेरे से बाहर

जब मैं दस वर्ष का भी नहीं हुआ था, मैं शेक्सपियर और बाइबिल से ओत-प्रोत था।

बच्चों के लिए लिखी पुस्तकों से मुझे घृणा थी।

मेरा मस्तिष्क नये विचारों के लिए छटपटाता रहता।

जिस घर में प्रेम नहीं, घृणा नहीं, डर नहीं, श्रद्धा नहीं, था तो सिर्फ व्यक्तित्व; हम बच्चों को उससे बाहर अपने लिए कोई रास्ता निकालना ही था।

मुझे याद है, एक बार एक पड़ोसी के बगीचे से मैंने चार दर्जन सेब चुराये, किन्तु डेढ़ दर्जन खाने के बाद ही मैंने अनुभव किया कि इन्हें पेट में उतारने के बदले मुर्गियों पर फेंकना कहीं अधिक आनन्ददायक है!

जब मैं छोटा बच्चा था, उपन्यासों के पढ़ने से मेरी कल्पना इतनी तीव्र हो गई थी कि अपने से छोटे एक बच्चे पर यों रोब जमाता, मानो मैं कोई बहुत बड़ा नायक हूं।

जब मैं छोटा-सा बच्चा ही था, प्रसिद्ध संगीतज्ञ मोजार्ट के गाने अच्छी तरह सीख गया था, अपनी शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण मैं इसीको समझता हूं।

मेरी समझ में होरास के पद्यों को कण्ठस्थ करने के बदले बिथोविन का संगीत गुनगुनाना शिक्षा की दृष्टि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है !

यदा-कदा मैं आयरलैंड की राष्ट्रीय चित्रशाला में जाता। वहीं बड़े-बड़े चित्रकारों से मेरा परिचय हुआ।

मुझे पता चला कि माइकेल ऐंजेलो और टीशियन की तरह मैं चित्र नहीं बना सकता, जबतक कि इस कला का विधिवत् अध्ययन न कर लूं !

किलनी पहाड़ी पर मैं दृश्यों को देखकर नहीं अघाता, जिन्हें प्रकृति ने जैसे मेरे लिए ही चित्रित किया हो।

ऐसा सुन्दर आकाश—मैं सदा ऊपर ही देखता रहता !

हरिनों को पालने के लिए तो जंगल रखाये जाते हैं, किन्तु बच्चों के लिए बगीचे भी नहीं। शायद इसीलिए कि हरिनों का शिकार किया जाता है। लेकिन कौन कहता है कि आप बच्चों का शिकार नहीं करते—हां, उन्हें गोली से नहीं मारते और न उनपर शिकारी कुत्ते छोड़ते हैं ! यही आपकी मेहरबानी है !

जब मैं बारह वर्ष का था तो साथियों के साथ एक पहाड़ी पर गया। हमने सोचा, इसपर आग लगाना कितना मजेदार होगा। एक लड़के ने विरोध किया, वह नीचे उतर आया। वह पकड़ लिया गया, क्योंकि पुलिस ने देखा कि ऊपर आग धू-धू जल रही है ! निरपराध ही फंसाये जाते हैं।

एक दिन जब मैं संध्या को चहल-कदमी कर रहा था, मेरे मन में अचानक यह बात उठी कि मुझे जब विश्वास नहीं तो फिर रात में सोने के पहले प्रार्थना क्यों किया करता हूं। उस रात प्रार्थना नहीं की। दूसरे दिन मन में प्रश्न उठा—प्रार्थना नहीं करने पर मैं कल बेचैन क्यों हो उठा ? और दूसरी रात के बाद तो मैं भगवान् को इस तरह भूल चुका था, जैसे मैं जन्म-जात नास्तिक होऊं।

अब भगवान् नहीं रह गया था, तो मेरी आत्मा जगी—मैं सोचने

लगा कि मर्यादा और नैतिकता बड़े-बूढ़ों की ही चीजें नहीं हैं। बचपन की शैतानी, स्वार्थ, कल्पना, मूढ़धारणा आदि के स्थान पर हृदय में एक ज्योति-सी जग गई—जैसे मेरा नया जन्म हुआ।

संघर्ष के वे दिन !

जीविका के रूप में मैंने साहित्य को इस वास्ते अपनाया कि लेखक को पाठक देखते नहीं, इसलिए उसके लिए भलेमानस की पोशाक की जरूरत नहीं। व्यापारी, डॉक्टर या फाटकेबाज बनने के लिए मुझे साफ-सुथरे कपड़े पहनने पड़ते और अपने घुटनों एवं कुहनियों से काम लेना छोड़ देना पड़ता। साहित्य ही एक ऐसा सभ्य पेशा है, जिसकी अपनी कोई पोशाक नहीं—इसलिए मैंने इसी पेशे को चुना।

फटे जूते, छेदवाला पाजामा, समय के थपेड़ों के कारण काले से हरा बन गया लम्बा कोट, कैंची से काटकर सर किया गया कालर, और पुराना टोप, जिसे मैं उलटकर इसलिए पहनता कि कहीं उतारने के समय वह एक से दो न हो जाय।

"छः पैसे में कैसे रहा जा सकता है"—इस नाम की पुस्तक मैंने एक बार खरीदी थी। दोपहर तक उसके नियमों पर मैंने ईमानदारी से चलने की कोशिश की और जब कभी मेरी प्रामाणिक जीवनी लिखी जायगी, मैं उसमें इस घटना के उल्लेख पर ज़ोर दूंगा, क्योंकि इससे मेरी संतोष और त्याग की वृत्ति प्रकट होती है!

मुझे एक संध्या की याद आ रही है, जब मैं उपन्यास लिखा करता था और उससे एक पैसा भी पाना सौभाग्य समझता था। मैं स्लोन की सड़क पर साहित्यिकों की उस अटपटी पोशाक—संध्या की पोशाक—में आ रहा था। एक आदमी मेरे निकट आया और बार-बार मुझसे सहायता मांगने लगा कि उसके पास एक पैसा भी नहीं है। "मेरे पास भी एक पैसा नहीं है"—मैंने पूरी सच्चाई से उससे कहा और वह बड़ी सभ्यता से धन्यवाद देकर चला गया। जब वह चला गया, मैं बार-बार सोचता रहा कि मैं भी भीख क्यों नहीं मांगता, क्योंकि भीख मांगनेवाले की स्थिति मुझसे बुरी नहीं हो सकती।

दूसरी घटना। उसी पोशाक में एक बार आधी रात के बाद मैं पिकाडेली से बौंड की सड़क की ओर लौट रहा था। उस समय एक स्त्री मेरे निकट आई और विनय की कि ब्रोम्पटन जानेवाली आखिरी बस भी छूट चुकी है, इसलिए यदि कोई उसे अपने साथ ले चले, तो वह बड़ी कृतज्ञ होगी। मुझमें आयरलैंड की बहादुरी तो थी ही, फिर अपनी अवस्था और स्थिति के साम्य पर भी दृष्टि थी, इसलिए मैंने बड़ी नम्रता से बहाना किया कि मेरी पत्नी (कल्पना की पत्नी ?) घर पर मेरी घोर प्रतीक्षा कर रही होगी और आपकी जैसी खूबसूरत देवी को रात भर की साथी बनाने के लिए कोई-न-कोई सज्जन मिल ही जायंगे। यह कहना था कि उसने मेरी बांह पकड़ ली, मुझसे चिपक गई और मेरे साथ नरक तक जाने को तैयार बताने लगी ! "मुझसे चिपककर आप दूसरा मौका भी खो रही हैं, मुझे छोड़िये"—लेकिन क्या वह मुझे छोड़नेवाली थी ? अन्त में मैं सड़क के मोड़ पर खड़ा हो गया, जेब से अपना बटुआ निकाला और उसे उलटकर दिखा दिया ! मेरा यह दिवालियापन देख बेचारी लड़की का चेहरा उतर गया। घांघरे के करुण मर्मर में वह बेचारी जल्दी से लौटकर मेरी आंखों से ओझल हो गई।

लंदन किसी शर्त पर मुझे बर्दाश्त करने को तैयार न था। बस, मेरा एक लेख स्वीकृत हुआ और पन्द्रह शिलिंग मिले। एक प्रकाशक ने कुछ पुराने ब्लाक खरीदे थे। उसने चाहा कि उन ब्लाकों से स्कूलों में इनाम देने के लिए पुस्तकें तैयार कराई जायं। मुझे ब्लाकों के नीचे के लिए कविताएं लिख देने को कहा। कविता क्या लिखता—विनोद में ही व्यंग्य-कविताएं लिखकर उसके पास भेज दीं। लेकिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने देख कि इन कविताओं के लिए उसने धन्यवाद के साथ पांच शिलिंग दिये। मुझे दया आई। मैंने एक अच्छी गंभीर कविता लिखकर भेज दी, लेकिन इसे उसने दिल्लगी समझा और उसी दिन से मैंने कविता लिखना छोड़ दिया !

प्रारम्भ के नौ वर्षों में सिर्फ छः पौंड अपने लिखने की कमाई से मैं प्राप्त कर सका।

मैं और मेरे विचार

तुम पूछते हो कि मैं तुम्हें अपने माता-पिता के विषय में बताऊं और यह भी कि उनका मेरे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा ?

अपने जीवन के विस्तृत विवेचन के लिए मुझे कम-से-कम बीस मोटे-मोटे ग्रंथ लिखने पड़ जायंगे । इससे कम में कुछ भी कहना असम्भव है । मैं अपने पिता की एक कहानी तुम्हें बताऊं ? मैं बच्चा था जब उन्होंने मुझे समुद्र में पहली बार डुबकी लगवाई । इसकी भूमिका में उन्होंने तैराकी के महत्व पर एक सारगर्भित भाषण दिया और अन्त में कहा, "जब मैं सिर्फ चौदह साल का था, मैंने तैराकी के ज्ञान के कारण ही तुम्हारे चाचा की जान बचाई थी ।" और जब उन्होंने देखा कि उनकी बातों का मुझपर गहरा प्रभाव पड़ा है, उन्होंने कुछ झुककर धीरे-से कहा, "लेकिन जितना दुःख मुझे इस काम के करते हुआ, उतना और किसीसे नहीं ।" इतना कहकर पिताजी गहरे पानी में कूद पड़े, खूब तैरे और लौटती बार रास्ते भर उनकी चुहल चलती रही ।

मैंने अपनी रचनाओं में चरमविन्दु लाने की जान-बूझकर कभी कोशिश नहीं की, यह अनायास आ जाया करता है । पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरे पिता के मज़ाकों और मेरे हास्य-प्रधान नाटकों में, हल्का ही सही, पर एक सम्बन्ध अवश्य है ।

तुम पूछते हो, मैंने पहली बार लिखने की प्रवृति का अनुभव कब किया ?

लिखने का प्रयास मैंने कभी नहीं किया, उसी तरह जिस तरह सांस लेने का प्रयास कभी नहीं करता हूं, और न कभी यही अनुभव किया कि मुझमें असाधारण साहित्यिक प्रवृत्ति है । यदि किसीमें सहज एवं स्वाभाविक साहित्यिक प्रवृत्ति हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ! कला के विशेषज्ञों, संग्रह-कर्ताओं और उत्साही लेखकों में ही सृजन-शक्ति की कमी रहती है । मछली उड़ना चाहती है, पंछी तैरना—जिसमें जिस वस्तु का अभाव रहता है, वह उसी वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करता है । मैंने कभी लिखने की चेष्टा की ही नहीं । यह सत्य है कि मैं अब उस साहित्यिक प्रवृत्ति का अभाव अपने में पाता हूं, फिर भी मैं उसकी पूर्ति के लिए

लालायित नहीं हूं। किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे प्राप्त किये रहना —दोनों बातें कैसे हो सकती हैं ?

तुम पूछते हो, मेरी पहली कलाकृति का क्या रूप था ?

एक धुंधली-सी याद है। जब मैं बच्चा था, मैंने एक कहानी लिखी थी और उसे किसी बच्चों के अखबार में भेजा था। कहानी का नायक एक बन्दूक-धारी था, जिसने तलहटी की झाड़ियों में किसीपर आक्रमण किया था। बन्दूक ही मेरी दिलचस्पी का केन्द्र था।

वास्तव में मेरी प्राथमिक कृतियां वे पांचों उपन्यास हैं, जिनको १८७९-८३ के बीच मैंने लिखा और दुर्भाग्य से जो अप्रकाशित ही रहे। फिर मैंने एक वासनात्मक नाटक लिखना शुरू किया, जिसमें नायक की मां को मैंने एक कलह-प्रिय स्त्री के रूप में चित्रित करने का विचार किया, पर उसे लिख ही नहीं सका। न जाने क्यों, किसी चीज़ से खिलवाड़ करने में मैं बार-बार असफल रहा हूं। 'कला कला के लिए' के उद्देश्य से किये गए मेरे सभी प्रयत्न विफल रहे। ऐसा लगता था, मानो मैं कागज पर कांटी रखकर उसे हथौड़े से ठोक रहा होऊं।"

...　　　　...　　　　...

इसके बाद ही शॉ की सफलता की ज़िन्दगी शुरू होती है। प्रतिभा ने, परिश्रम ने, लगन ने उसे संसार के महानतम लेखकों की पंक्ति में बिठलाया। उसका एक अपना रंग, अपना ढंग ! उसकी एक अपनी भाषा अपनी शैली ! उसे यश मिला, उसे धन मिला। किन्तु उसने इनके मोह से सदा अपनेको अलिप्त ही रखा। सादा जीवन, उच्च विचार। न मांस छुआ, न मदिरा छुई ! व्यंग्यवाण चलाने में उसने किसीको अछूता न छोड़ा ! कट्टरपंथी अंग्रेज़ जाति को वह बार-बार झकझोरता रहा, उनकी एक-एक धारणा की खिल्लियां उड़ाता रहा। किन्तु वाह री कलम की जादूगरी ! जादू वह जो सिर पर चढकर बोले ! वे सुनते रहे, हँसते रहे, उसपर मरते रहे ! और क्या यह सच नहीं कि अंग्रेजी भाषा को उसने उस चोटी पर चढ़ा दिया, जिस तक पहुंचने के लिए कोई भी भाषा लालायित हो सकती है ?

: ४ :

हमारे राष्ट्रपति

१९२१ का तूफानी जमाना ! बहुत-से लड़कों के साथ मैंने भी स्कूल छोड़ दिया था। असहयोग के बाने के रूप में मोटी खुरदरी खादी का कुर्ता शरीर पर और उसीकी बनी बेडौल गांधी-टोपी सिर पर डाले हम गांव-गाव की खाक छानते फिर रहे थे। कैसा उत्साह था, कितनी उमंग थी ! हवा में देशभक्ति की बिजली दौड़ रही थी । जर्रे-जर्रे से जैसे विप्लव के स्फुलिंग निकल रहे थे। कैसा दिन, कैसी रात ! क्या खाना, क्या सोना ! लगता था, बूढे भारत में नई जवानी आ गई है ! फिर, हम जो मुंछउठान नौजवान थे, उनकी मनस्थिति की कल्पना कीजिये।

देहात में ही था कि खबर मिली, गांधीजी पटना आ रहे हैं। गांधीजी आ रहे हैं, यही बात हमें पटना खींच ले चलने को काफी थी । उसपर यह भी खबर थी कि वह पटना में एक विद्यापीठ का उद्घाटन करने आ रहे हैं, जिसमें हम असहयोगी विद्यार्थियों के पढ़ने का प्रबंध किया जायगा। सबसे बड़ी खबर यह थी कि उस विद्यापीठ के आचार्य होंगे राजेन्द्रबाबू !

राजेन्द्रबाबू को बिहार का कौन विद्यार्थी नहीं जानता था ? उस समय के विशाल कलकत्ता विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में सर्वप्रथम आकर उन्होंने बिहार के विद्यार्थियों की प्रतिभा की धाक जमाई थी। 'बिहारी-छात्र-सम्मेलन' की स्थापना कर बिहार के विद्यार्थियों का जैसा संगठन किया था, वैसा आजतक नहीं किया जा सका। आज के सारे छात्र-संगठन तो ध्वंसात्मक हो गये हैं; वह संगठन पूर्णतः रचनात्मक थी। हर जिले में उसकी शाखा थी। हर शाखा सालभर कुछ-न-कुछ रचनात्मक काम किया करती थी। उसके संरक्षण में गांवों में निरक्षता दूर करने के प्रयत्न से लेकर छात्रों के बीच व्याख्यान, व्यायाम, संगीत, अभिनय आदि की प्रतियोगिताएं चलती रहती थीं। लेख और कविता की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करने के

लिए हस्तलिखित पत्रिकाओं का संचालन होता था, विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखाये जाते थे और अच्छे निबंधों पर पुरस्कार और पदक प्रदान किये जाते थे। छात्र-सम्मेलन के अधिवेशन धूमधाम से किये जाते थे—देश के बड़े-से-बड़े नेता बुलाये जाते थे। इन संस्था ने राजेन्द्रबाबू को बिहार के विद्यार्थियों में बड़ा ही जानप्रिय बना रखा था, फिर, चम्पारन के किसान-संघर्ष में राजेन्द्रबाबू ने गांधीजी का पूरा साथ देकर बिहार की जनता का मन मोह लिया था। अब गांधीजी की पुकार पर सबसे पहले असहयोग कर उन्होंने बिहार का नेतृत्व अपने कंधों पर लेकर हमें कृतार्थ किया जात था।

ऐसे और वही राजेन्द्रबाबू हमारे आचार्य होंगे, हम उनके चरणों के निकट बैठकर ज्ञान प्राप्त करेंगे, यह कल्पना ही हमें मुग्ध बनाने के लिए काफी थी !

कई मित्रों के साथ मैं पटना पहुंचा। समूचा पटना नये जीवन से तरंगित था। प्रान्त के कोने-कोने से लोग आये थे। विद्यार्थियों की संख्या सबसे अधिक थी। असहयोग करके आये हुए वकीलों और प्रोफेसरों की भी भरमार थी। आज के बुद्धपथ पर जो उन दिनों पटना-गया-रोड कहलाता था, एक नये मकान के अहाते में सभा हुई। कैसी भीड़ ! उन दिनों लाउड-स्पीकर था नहीं, तो ऐसा संयम कि उस भीड़-भाड़ में भी गांधीजी की बातें हम सुन सके, अच्छी तरह सुन सके। गांधीजी ने विद्यापीठ का उद्घाटन किया। झरिया से इसके लिए उन्हें रुपये मिले थे। सभा में भी दान के लिए अपील की—कई देवियों ने हाथ की चूड़ियां तक निकालकर दे दीं, अन्य गहनों की तो बात ही क्या !

राजेन्द्रबाबू की उस दिन की सूरत आज भी याद है। अपनी सादगी के लिए वह सदा विख्यात थे; किन्तु उस दिन की उनकी सादगी आर सौम्यता कुछ अजब ही छटा दिखा रही था। लम्बा, छरहरा शरीर, श्यामल मुखमंडल। उठी हुई नाक के नीचे बेतरतीब मूंछें और उसके अगल-बगल वे दो पीली-पीली आंखें, जिनसे सुनहली किरणें फूटती-सी मालूम देतीं। सिर पर ऊंचे पल्ले की गांधी टोपी, जो उनकी ऊंचाई को और भी बढ़ा रही था। मोटी खादी का खुरदुरा कुर्ता, जिसके बटन भी

ठीक से नहीं लगे थे। खादी की ही धोती, जो मुश्किल से घुटनों के नीचे पहुंच रही थी ! राजेन्द्रबाबू को पहली ही बार देखा था, किन्तु उस दिन के राजेन्द्रबाबू बिहार के करोड़ों किसानों के सोलहो आने प्रतिनिधि लग रहे थे।

विद्यापीठ खुली, वह शहर से दीघाघाट की देहात में आई। स्वर्गीय मौलाना मजहरुल हक द्वारा स्थापित सदाक़त-आश्रम बिहार-कांग्रेस का सदर दफ्तर और विद्यापीठ का अध्ययन-केन्द्र बना। जंगल में मंगल मनने लगा। एक तरफ विद्यार्थियों का कलरव, दूसरी तरफ कार्यकर्ताओं का कोलाहल और बीच में राजेन्द्रबाबू का सौम्य, शान्त व्यक्तित्व—मानो प्रशान्त और अतलान्तक सागरों के बीच एक पुल। मेरे जैसे चपल लोग, उस पुल से कभी उस सागर के तट पर, कभी इस सागर के तट पर आते-जाते रहते।

१६२१ का तूफान बढ़ता गया, बढ़ता गया और उसके साथ ही राजेन्द्रबाबू का व्यक्तित्व भी ऊंचा उठता गया। बिहार का स्वतंत्र अस्तित्व कब से न विलीन हो चुका था, बिहार की गौरव-गरिमा कब की न धूल में मिल चुकी थी ! अब इस नये युग में राजेन्द्रबाबू के व्यक्तित्व के साथ नया बिहार देश के नक्शे पर अपना नाम सुनहले अक्षरों से लिख रहा था। हमारी प्रसन्नता का क्या कहना ! मैं दावे के साथ कह सकता हूं, जिस प्रकार बिहार का एकछत्र नेतृत्व राजेन्द्रबाबू को मिला था, वैसे अपने प्रदेश में किसी भी नेता को शायद ही कभी नसीब हुआ हो। देश में उस समय भी बड़े-से-बड़े नेता थे—देशबन्धु चित्तरंजनदास, पं० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, अलीबंधु, इन सबको पूरे देश का सम्मान मिला था, किन्तु इनके अपने प्रदेश में ही इनकी ओर उंगली उठानेवाले लोग कम नहीं थे। किन्तु यह राजेन्द्रबाबू थे, जो एक स्वर से समूचे बिहार का प्रतिनिधित्व करते थे। लोगों को आश्चर्य होता था, कभी-कभी इसे बिहारियों की भेड़ियाधसान की प्रवृत्ति मानकर इसपर व्यंग्य भी कसा जाता था, किन्तु ऐसे लोग भूल जाते थे राजेन्द्रबाबू की उन खूबियों को, जिनके कारण सारा बिहार उनके पीछे चलने में गौरव अनुभव करता था।

इतना बड़ा व्यक्तित्व रखकर भी राजेन्द्रबाबू कभी यह अनुभव नहीं

होने देते थे कि वह सर्वसाधारण से पृथक् नेता नामक कोई किंभूत, किमाकार जीव हैं । उनकी वेशभूषा, खानपान, रहन-सहन सबमें साधारणीकरण की अद्भुत छाप थी। सबकी तरह मोटी धोती और कुर्ता सबके साथ एक ही पंक्ति में बैठकर वही साधारणतम भोजन—भात-दाल या रोटी-सब्जी, सबके समान ही बिछावन-तकिया। उनके निकट कोई भी किसी समय जा सकता था। वह किसी भी कार्यकर्ता के साथ एक ही इक्के पर या रेल के थर्ड क्लास के एक डब्बे में बैठकर सफर कर सकते थे। अपने व्यक्तित्व का बोझ किसीपर नहीं लादते थे। अपना बिस्तर आप उठाकर चल देने में उन्हें ज़रा भी हिचक नहीं होती थी। छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं के नाम भी उन्हें याद रहते, जब कभी वह उनके निकट जाते, बड़े प्रेम से उनका हालचाल पूछते। अपने सुख-दुःख की गाथा वे बड़े विस्तार से कहते जाते और राजन्द्रबाबू बिना ऊब के उनकी बातें ध्यान से सुनते जाते। जो सहायता के पात्र होते, उनकी सहायता करने में वह किसी हद तक जा सकते थे। ऐसे नेता को स्वभावतः एकछत्र नेतृत्व मिल जाय, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है !

१६२१ का तूफान बीता। १६२२ से १६२६ तक की वह जहरीली प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। वकीलों ने वकालत शुरू की, विद्यार्थियों ने स्कूल-कालेज पकड़े। बड़े-बड़े नेता विधान-सभाओं की ओर लपके। आपस की 'तू-तू-मैं-मैं' चलने लगी। तरह-तरह के झगड़े खड़े हुए। हिन्दू-मुसलमानों के बीच दंगों का एक लम्बा सिलसिला शुरू हुआ—भाई के खून से भाई के हाथ रंगने लगे। वह दानवी चिल्लाहट—'हर हर महादेव', 'अल्लाहो अकबर'! महादेव और अल्लाह जहां कहीं भी हों, अपने इन नाम-लेवों पर निस्संदेह सिर धुनते होंगे! हिन्दुओं में आपस की जात-पांत की रगड़ शुरू हुई। कोई अपनी जाति का राज्य बनाना चाहता था, कोई अपनी जाति का। चुनावों ने इस जले पर नमक छिड़का। सारे देश में अन्धकार था। ऐसे अवसर पर सारे देश में जिन कुछ लोगों ने प्रकाश-स्तम्भ का काम किया, उनमें राजेन्द्रबाबू अन्यतम थे।

जब सारा देश इस प्रतिक्रिया की चपेट में पड़ा था, राजेन्द्रबाबू सदाकत आश्रम में तपस्या की धूनी रमा रहे थे—वह तपस्या नहीं, जो अन्तर्मुखी

हो, अपने-आपमें केन्द्रित हो और अचल हो। उनकी तपस्या बहिर्मुखी थी, जनमुखी थी, जंगम थी। सदाकत-आश्रम में विद्यापीठ का काम चल रहा था—यही नहीं, प्रान्त के कई अंचलों में राष्ट्रीय विद्यालय शान से चल रहे थे। इनके द्वारा राष्ट्रीयता की नींव तरुणों के हृदयों में दृढ़मूल की जा रही थी। खादी के उत्पादन के लिए सुसंगठित प्रयत्न जारी था। बिहार की खादी अपनी बारीकी और सस्तेपन के लिए देशभर में सुनाम पा रही थी। अपने व्यवहार से, वचन से ही नहीं, राजेन्द्रबाबू साम्प्रदायिकता और जात-पांत की दावाग्नि को बिहार में संहार-कांड मचाने से रोक रहे थे। देहात के कोने-कोने में फैले राष्ट्रकर्मियों से निकट सम्पर्क बनाकर, उन्हें तरह-तरह के रचनात्मक कार्यों में जोतकर वह सदा उन्हें निराशा के चक्र में फंस जाने से बचाते। वह प्रायः प्रान्त के कोने-कोने में यात्रा करते और जहां जाते, वहां की जनता और कार्यकर्ताओ में उत्साह का संचार करते। पूरे सात साल तक राजेन्द्रबाबू द्वारा की गई इस अनवरत साधना का ही फल था कि १९३०-३२ के सत्याग्रह में बिहार ने न केवल देश-व्यापी, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की।

अपने कार्यकर्ताओं की भावना का खयाल राजेन्द्रबाबू कितना रखते थे, उसके कई प्रसंगों का पुण्यस्मरण कर आज भी मुझमें पुलक हो आता है। राजेन्द्रबाबू विशुद्ध अहिंसावादी हैं। आतंकवादी कार्यों को उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया, किन्तु जब कभी उन्हींके अनुयायी अंग्रेजों की कुनीति से ऊबकर, हिंसा के मार्ग पर चल दिये और कालक्रम से वे पकड़े गए और उनपर सशस्त्र विद्रोह और षड्यन्त्र के मुकदमे चले, तब राजेन्द्र-बाबू ने उनके मुकदमे की पैरवी के लिए कुछ उठा नहीं रखा। यह सच है कि राजेन्द्रबाबू ने यदि उस समय उनकी अच्छी पैरवी न कराई होती तो उनमें से कितनों को फांसी हो गई होती। जब यतीन्द्रनाथदास की शहा-दत पर पटना के युवकों ने जलूस निकालना चाहा और पुलिस ने उसपर रोक लगा दी तो स्वयं राजेन्द्रबाबू उसमें कूद पड़े और पुलिस को हार-कर जुलूस की आज्ञा देनी पड़ी। उस समय उनके कई सहकर्मियों ने उन्हें समझाना चाहा कि यह आतंकवादियों की बात है, हमें इसमें नहीं पड़ना चाहिए, किन्तु राजेन्द्रबाबू ने स्पष्ट कह दिया कि जब हमारे नौजवानों

ने तय कर लिया कि रोक के बावजूद वे जुलूस निकालेंगे, तब यह नहीं हो सकता कि हम बैठे रहें और उन्हें सड़कों पर पुलिस के डंडे खाने को छोड़ दें।

राजेन्द्रबाबू देखने में ही सौम्य नहीं हैं, उनकी धमनियों में भी सौम्यता के ही रक्त का संचार होता है। किन्तु उनकी सौम्यता के अन्दर एक अपूर्व दृढ़ता और तेजस्विता छिपी है, यह उनके निकट रहनेवाले जानते है। १६३० की एक घटना याद आ रही है। देशभर में नमक-सत्याग्रह चल रहा था। बिहार में भी कई स्थानों पर सत्याग्रह जोरों से जारी था। राजेन्द्रबाबू प्रान्तों के उन सभी स्थानों के दौरे कर रहे थे। इधर पटना में कुछ नहीं हो रहा था। कुछ नौजवान कुछ करना भी चाहते थे, किन्तु बुजुर्ग उनके हाथ रोक रहे थे। प्रान्तभर में धू-धू आग जल रही हो और हम सिर्फ दूर से हाथ सेकते रहें, नौजवानों को यह पसंद न था। अन्ततः मुझे राजेन्द्रबाबू की सेवा में भेजा गया। मुजफ्फरपुर स्टेशन पर ही उनसे भेंट हो गई। मैंने सारी बातें बताईं। संयोगवश हमारे एक बुजुर्ग नेता भी उसी गाड़ी से वहां पहुंचे थे। मै राजेन्द्रबाबू से बातें कर ही रहा था कि वह आ पहुंचे और शर्तों की बात कहकर राजेन्द्रबाबू को समझाने लगे। राजेन्द्रबाबू ने उनकी बातें सुन लीं। फिर बगल में खड़ी रेलगाड़ी के एक डब्बे में बैठ गए और एक आज्ञापत्र लिख दिया—शर्त सिर्फ शान्ति की, जो जहां चाहे, सत्याग्रह शुरू कर दे। उन नेता महोदय की क्या बात, मैं भी राजेन्द्रबाबू की यह तेजस्विता देखकर दंग रह गया।

बिहार में यह बात सर्वविदित है कि जब गांधीजी ने 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो'—का नारा शुरू किया, तब राजेन्द्रबाबू ने बिहार के चुने हुए राष्ट्र-कर्मियों को एकत्र किया था और साफ शब्दों में कह दिया था कि हमें इस बार अंग्रेजी राज्य को 'थौंसा देबे के चाहीं !' इस 'थौंसाना' शब्द का सही हिन्दी पर्यायवाची शब्द क्या होगा, मैं नहीं जानता। भोजपुरी में इसका जो अर्थ है, वह अंग्रेजी के 'पैरालाइज्ड' शब्द से मिलता-जुलता है। यही नहीं, राजेन्द्रबाबू ने उन लोगों की एक सूची भी बना ली, जो देश के इस अन्तिम मुक्ति-संग्राम में अपने प्राणों की आहुति बिना हिचक दे सकते

थे। १९४२ की अगस्त-क्रान्ति में बिहार में सचमुच अंग्रेजी सरकार थौंस चुकी थी !

श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू की रचनात्मक प्रतिभा की धाक तो प्रारम्भ से ही देश पर छाई हुई थी, किन्तु उसका सबसे बड़ा प्रमाण तब मिला, जब बिहार में भूकम्प हुआ। १९३४ का भूकम्प ! भूकम्प क्या, खंड-प्रलय समझिये। राजेन्द्रबाबू जेल में थे। बिहार-सरकार को अक्ल आई, वह छोड़ दिये गए। जेल से निकलते ही रिलीफ का कैसा सुन्दर प्रबन्ध किया ! उस अवसर पर मेरे गांव में कई बार राजेन्द्रबाबू गये और मेरी कुटिया को सनाथ किया।

उसके बाद ही वह बम्बई-कांग्रेस के सभापति चुने गए। इसे हम सबने बिहार का सम्मान माना।

यहां राजेन्द्रबाबू की हिन्दी-सेवा का उल्लेख कर देना भी उचित होगा। बिहारी छात्र-सम्मेलन द्वारा उन्होंने हिन्दी की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लेखादि का जो सिलसिला चलवाया था, उसका उल्लेख किया जा चुका है। जब पटना विश्वविद्यालय क़ायम हुआ, शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनाने के लिए उन्होंने प्रारम्भ से ही जोर दिया। पटना में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का वह शानदार अधिवेशन उन्होंने ही कराया था, जिसके सभापति मध्यप्रदेश के पं० विष्णुदत्त शुक्ल थे। बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना में भी उनकी प्रेरणा ने हमें बल दिया था। प्रादेशिक सम्मेलन के अधिवेशनों में वह अवश्य ही सम्मिलित होते थे और प्रान्त के साहित्यिकों को सदा पथ-प्रदर्शन देते थे। प्रादेशिक सम्मेलन ने उन्हें दरभंगा अधिवेशन का सभापति बनाकर अपनेको गौरवान्वित किया था। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति-पद उन्हें सौंपकर हिन्दी-संसार ने उनकी हिन्दी-सेवा पर स्वीकृति की मुहर लगाई। कांग्रेस के साथ होनेवाले राष्ट्रभाषा-सम्मेलन के तो वह सदा प्राण रहे। राजेन्द्रबाबू अपना पत्र-व्यवहार सदा हिन्दी में करते थे। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने में भी उन्हें संकोच नहीं था। पटना से प्रकाशित साप्ताहिक 'देश' उनका अपना पत्र था, उसमें वह प्रायः लिखा करते थे। अन्त में तो उसके सम्पादक भी

वही थे।

सबसे बढ़कर अपनी 'आत्मकथा' हिन्दी में लिखकर उन्होंने इस भाषा को कितना बड़ा गौरव प्रदान किया है, इसे कौन हिन्दी-भाषी अनुभव नहीं करेगा ! राजेन्द्रबाबू ने इस 'आत्मकथा' में जैसी हिन्दी का व्यवहार किया है, वही सरल, सरस, प्रांजल भाषा एक दिन राष्ट्रभाषा का स्थान पायगी, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

कांग्रेस के सभापति की हैसियत से उन्होंने देश के कोने-कोने का दौरा कर एक नई परम्परा चलाई। वह जहां गये, सर्वत्र उन्हें शाही स्वागत मिला, थैलियां मिलीं, अनेकानेक उपहार मिले। उन्हींके सभापतित्व-काल में कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई, जिसकी धूमधाम के सामने सम्राट् पंचम जार्ज के राज्यकाल की रजत-जयन्ती फीकी पड़ गई। इस अवसर की एक मधुर घटना याद आ रही है। मैं उन दिनों 'योगी' का सम्पादन कर रहा था। इस अवसर पर मैंने 'शहीद-अंक' निकालने का विचार किया। उसके लिए राजेन्द्रबाबू से एक लेख मांगा और साथ ही निवेदन किया, क्यों न कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती के साथ शहीद-वन्दना का भी कार्यक्रम रखा जाय। राजेन्द्रबाबू उन दिनों दक्षिण भारत की यात्रा में थे, उनका बड़ा ही व्यस्त कार्यक्रम था। तो भी उन्होंने एक लेख तुरन्त भेजा और एक वक्तव्य प्रकाशित कर स्वर्ण-जयन्ती के कार्यक्रम में शहीदों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना, उनका स्मारक बनाना, उनके परिवार की सहायता करना आदि भी सम्मिलित कर दिया। अपने उस लेख का प्रारम्भ राजेन्द्रबाबू ने फारसी के एक शेर से किया था, "मर्गे अम्बोह जशने दारद"। अर्थात्—साथ का मरना स्वयं एक उत्सव है !

राजेन्द्रबाबू ने देश में जो समां बांधा, उसीका फल था कि १९३५ के केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस को शानदार सफलता मिली और १९३७ के आम चुनाव में भारत के सात प्रान्तों की विधान-सभाओं पर कांग्रेस का कब्जा हुआ। १९३२ के आन्दोलन के समय भारत-मंत्री सर सैम्युयल होर ने गर्व से कहा था, "कुत्ते भूंकते रहेंगे, कारवां बढ़ता जायगा।" संसार ने कुछ ही वर्षों के बाद देखा, वे कुत्ते कारवां के ऊंटों की गर्दन पर सवार थे और उन्हें झकझोर कर अधमुआ कर रहे थे !

१६४२ में जब राजेन्द्रबाबू जेल भेजे गए तो वहां उन्होंने 'इण्डिया डिवाइडेड' नामक वह आकर-ग्रंथ लिखा, जो आंकड़ों का आगार है। उसमें उन्होंने सिद्ध किया कि यदि भारत के टुकड़े किये गए तो आर्थिक दृष्टि से उसका विकास रुक जायगा। किन्तु अक्ल की बात साम्प्रदायिक कट्टरता के सामने हार गई। और क्या यह सच नहीं है कि पाकिस्तान आज जिस मुसीबत में फंसा है, उसकी झलक राजेन्द्रबाबू ने पहले ही दे दी थी।

जेलों में राजेन्द्रबाबू सदा एक आदर्श कैदी रहे। १६३० में हजारीबाग जेल में जबतक रहे, नियमित रूप से जेल के कारखाने में जाकर काम करते रहे। मैं 'कैदी' नामक एक हस्तलिखित पत्र वहां निकालता था। 'प्रजा का धन' शीर्षक से उसमें एक लेख देकर राजेन्द्रबाबू ने अपने लोगों से आग्रह किया कि वह कुछ काम जरूर करें, क्योंकि आखिर वे जो अन्न खा रहे हैं, वह तो प्रजा का ही धन है। ऐसा करके हम उसकी कुछ भरपाई कर सकेंगे। जेल में नियमित रूप से चरखा कातना, पढ़ना-लिखना आदि के साथ उनका एक काम यह भी होता कि अपने सहकर्मियों और अनुयायियों के बैरकों में जाते, उनसे मिलते, उनसे हालचाल पूछते और जिन्हें जरूरत होती, उनकी सहायता का प्रबन्ध इस तरह करा देते कि वह जान भी न पाता कि कहां से क्या हो रहा है।

इसके बाद की घटनाएं तो जग-जाहिर हैं। राजेन्द्रबाबू केन्द्रीय सरकार के खाद्य-मंत्री बने। उस समय अकाल का बादल देश के ऊपर मंडरा रहा था। राजेन्द्रबाबू ने बड़ी मुश्किल से उसे टाला। विधान-परिषद के सभापति के रूप में उन्होंने देश को एक अच्छा विधान पाने में कितनी सहायता की, उसका सबूत यह है कि जब उस विधान के अनुसार भारत का जनतंत्र स्थापित हुआ, देश ने उनके सर पर राष्ट्रपति का ताज रखा।

विहार को इसका गर्व है कि उसने स्वतन्त्र भारत को प्रथम राष्ट्रपति दिया।

: ५ :

यूरोप के कलाकार

अपनी दो बार की यूरोप-यात्राओं में रंगमंच और चित्रशाला देखना मेरा सबसे प्रिय कार्य रहा। इंगलैंड की नेशनल गैलरी, फ्रांस की लालूव्र और वारसाई की चित्रशालाएं, जिनेवा और बर्न की चित्रशालाएं, फ्लारेंस की चित्रशाला और पित्ती की गैलरियां, वेनिस की आधुनिक चित्र-प्रदर्शिनी, रोम की वेटिकन गैलरी--इन सबमें कितने घण्टे अपनी आंखों को मैंने तृप्त किया था! पेरिस में बीसवीं सदी की कला-प्रदर्शिनी तो विचित्र थी और मेरा यह सौभाग्य था कि उसी समय यूरोप के प्राय: हर शहर में लियोनार्दो द विंची की जयन्ती मनाई जा रही थी। लियोनार्दो की प्राय सभी कृतियां अपनी आंखों से देखकर कृतकृत्य हुआ और बीसवीं सदी की कला की गूढ़ता ने तो मुझे विस्मय-विमुग्ध कर दिया।

कलाकारों की कलाकृतियां! किन्तु जब इन कलाकारों के जीवन-चरित पर उतरा, यह जानना शुरू किया कि जिनकी ये कृतियां हैं, उनका चरित्र कैसा था, वे कैसे पले, कैसे बढ़े, उन्हें किन संघर्षों का सामना करना पड़ा, उन्हें कहांतक सफलता मिली, तब तो ऐसा लगा कि मैं सहसा एक ऐसे टापू में डाल दिया गया हूं, जहां के सभी प्राणी विचित्र हैं, रंग में, रूप में, स्वभाव में, आचार में, व्यवहार में। उनमें से कुछसे आप भी भेंट कर लीजिये।

लियोनार्दो द विंची—यूरोपीय कला का यह पिता, किन्तु अपने पिता की अवैध संतान—देखने में अति सुन्दर, साथ ही अत्यन्त प्रतिभावान, बचपन से ही गाने-बजाने और चित्रकारी में रुचि—उम्र के साथ प्रतिभा का भी विकास होता गया और अन्ततः तो यह 'जादूगर' कहा जाने लगा। पृथ्वी और आकाश का कोई रहस्य नहीं, जिसके जानने और सुलझाने के लिए उसने चेष्टा नहीं की। वायुयान, टैंक, जल-कल, सबके बारे में अन्वेषण करता रहा, वास्तुकला और चित्रकला तो उसकी जीवन-

सहचरी रहीं। बलवान इतना कि घोड़े के नाल को हाथ मे दबाकर टेढ़ा कर देता।

लियोनार्दो ने उम्र भी लम्बी पाई--१४५२ से १५१६ ई० तक वह जीवित रहा। इन सड़सठ सालों में, प्रारम्भ के कुछ वर्षों को छोडकर, पूरी उम्र उसने कला की आराधना में ही बिताई। तीस वर्ष फ्लोरेंस में, बीस वर्ष मिलान में, सत्रह वर्ष इधर-उधर घूमते-घामते, इटली के इस सपूत ने फ्रांस के राजा की छत्रछाया में, अपने देश मे दूर, अन्तिम समाधि ली।

इस कलाचार्य की कूची ने जिसे स्पर्श किया, वह अमर हुआ। ईसा के 'अन्तिम भोजन' पर जो चित्र बनाया, उसपर तो एक बड़े साहित्य का सृजन हो गया है। और, 'मोना लिसा'--उसे तो कुछ लोग यूरोप की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति मानते है। इस छोटे-से चित्र पर वह तीन वर्ष तक काम करता रहा और मरते समय कहता गया कि अफसोस, मैं इसे पूरा न कर सका ?

"सभी सौन्दर्य, मानवी सौन्दर्य भी, मर-मिट जाते हैं। जीवित रहते हैं, अमर हो जाते हैं सिर्फ वे सौन्दर्य, जिन्हें कला में बांध दिया जाता है।" —अपने इस कथन की सार्थकता में उसने जहां-जहां सौन्दर्य देखा, सबको अमरता देने की कोशिश की। देवी, देवता, परियां, सुन्दरियां--यही नहीं, घोड़े, कुत्ते, भेड़िये भी उसकी कूची से अमरत्व प्राप्त कर सके हैं। अपने घोड़े की जो तस्वीर बनाई, वह भी एक अमर कलाकृति है।

इतना बड़ा कलाकार, बड़े बड़े लोग उसके प्रशंसक, हमेशा संयम में रहा--कोई स्त्री उसे विचलित न कर सकी, तो भी, उसका जीवन संघर्षों में ही कटा। अन्तिम दिनों में उसने अपनी डायरी में, अपने बाएं हाथ से लिखा, "जहां मैं सोचता था कि जीना सीख रहा हूं, वहां देखता हूं, मैं मरना सीख रहा था।"

लियोनार्दो के बाद माइकेल एंजेलो—महानतम व्यक्तियों में भी महानतम। कवि, इतिहासकार, आलोचक, औपन्यासिक—किसने अपनी लेखनी को इस कलाचार्य की कथा लिखकर धन्य नहीं किया ? रोम्यां रोलां ने उसके बारे में लिखा है, "माइकेल एंजेलो के समान उस समय तक कुछ नहीं देखा गया था। उसको गये इतने दिन हो गये, तो भी कला

की दुनिया उसकी तूफानी आत्मा के ही चारों ओर चक्कर काट रही है। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, कविता—सबको उसने अपनी बलिष्ठ बाहुओं से पकड़ा और सबमें अपनी अलौकिक शक्ति और उज्ज्वल आदर्शवाद का संचार किया। उसे समझा कितने लोगों ने, यह विवादास्पद है, किन्तु अनुकरण तो सभी कलाकारों ने किया।"

माइकेल एंजेलो का जन्म, फ्लोरेंस, (इटली) में एक गरीब के घर में हुआ था। स्कूल में पढ़ते समय से ही चित्रकला की ओर उसकी रुचि देखी गई। तेरह वर्ष की उम्र में वह एक चित्रकार का सहकारी बन गया। थोड़े दिनों के बाद वह एक प्रसिद्ध मूर्तिकार का सहकारी बना। उसने लिखा है, "अच्छा हुआ कि मेरे हाथ में छेनी और हथौड़ा आया, चित्रकला तो औरतों के लिए है।"

छेनी और कूची दोनों में ही उसने थोड़े दिनों में कमाल दिखलाना शुरू किया। मानवीय स्नायुओं के सही-सही चित्रण के लिए वह चुपचाप मुर्दों को श्मशान से उखाड़ लाता और चीरफाड़ कर देखता। मुर्दों की चीरफाड़ से उसे बार-बार उल्टी आती, पीछे तो उसकी आंत तक उलट गई, जिस कारण जिंदगी भर उसे खाने-पीने में रुचि नहीं रही, तो भी वह अपनी धुन में लगा रहा। मांसपेशियों और स्नायुओं की जैसी उभाड़ और बहार माइकेल एंजेलो की कला में देखी जाती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

पत्थर और रंग से निर्मित उसकी दुनिया ने उसे अमर कीर्ति ही नहीं दी, अपितु धन-वैभव का भी ठिकाना न रखा, लेकिन उसके लिए ये सब तुच्छ थे - कभी बिछावन पर नहीं सोया, कभी अच्छा भोजन नहीं किया। अपनी कला में वह दिन-रात मस्त रहा।

उसकी कलाकृतियों में काम-भावना का नितान्त अभाव है। उसकी कला में पौरुष सजीव हो उठा है। स्त्रियों की मूर्तियों में भी यौवन का वह रूप है, जहां वासना फटक नहीं सकती।

सिस्टाइन के प्रार्थना-गृह की छत में उसने जो तस्वीरें बनाईं, वे, मालूम होती हैं, देवताओं की बनाई हुई हैं! सृष्टि की पूरी कथा वहां अंकित है। आदम की आकृति तो देखते ही बनती है—मनुष्य के प्रथम

पूर्वज ऐसे ही हो सकते हैं, सहसा मुंह से निकल पड़ता है ! वर्षों तक अधर पर लटकते हुए ढठ्ठर पर अपनेको चित्त लिटाकर, उसने छत पर ये तस्वीरें बनाईं—तीन सौ तेंतालीस तस्वीरें, जिनमें अधिकांश दस फुट से अठारह फुट तक की हैं।

लियोनार्दो की तरह ही नहीं, उससे भी बढ़कर, माइकेल ऐंजेलो ने लम्बी उम्र पाई थी—१४७५ से १५६४ तक वह जीवित रहा। इस उम्र का पल-पल उसने कला की आराधना में बिता दिया।

इन दो महान इटालियन कलाकारों के बीच में राफेल। दो चट्टानों के मध्य में संगमरमर की एक मूर्ति—कोमल, चमकीली, तुनुक ! राफेल सिर्फ सैंतीस वर्ष जीवित रहा—१४८३-१५२० तक। लेकिन यूरोपीय कला पर वह अपनी स्थायी छाप छोड़ गया। छोटी उम्र में ही काफी कीर्ति पाई, काफी मौज उड़ाई। अपनी प्रियतमा के घर से लौट रहा था, वर्षा हुई, ठंड लग गई, चल बसा !

फिर तिशियन—जिसकी कला में इटली की सारी रंगीनी और करुणा केन्द्रित है। तब व्यूगेल, जिसने हॉलैंड के जन-जीवन को कला-क्षेत्र में आदर का स्थान दिलाया। और, हालविन—वह जर्मन, जिसने अपनी कला पर कभी इटालियन छाप नहीं आने दी।

रूवेन एक फ्लेमिश कलाकार था। क्रैवेन कहता है, "इसमें शक हो सकता है कि सबसे बड़ा कलाकार कौन है, किन्तु यह तो मान ही लेना है कि सबसे बड़ा चित्रकार रूवेन है। शब्दों की दुनिया में जो स्थान शेक्सपियर का है, रंगों की दुनिया में वह स्थान रूवेन को मिला है। उसकी आकृतियों में सार्वभौमता है, उसके रंगों में विविधता है। मानवता का कोई ऐसा रूप नहीं, जिसका चित्रण उसने नहीं किया। उसकी एक-एक रेखा बोलती है। मुंह की आकृति कह देती है कि ठीक इसके मुंह से यह बात निकलेगी।"

वह एक सुखी मध्यवित्त परिवार का आदमी था। अच्छी शिक्षा मिली थी। सात भाषाओं में वह आसानी से बातचीत कर सकता था। चित्रकला की प्रारम्भिक शिक्षा पाकर वह घोड़े पर इटली के लिए रवाना हुआ। वहां से जो सीखकर लौटा, उसमें अपनी मौलिकता जोड़ी। स्पेन गया, इंगलैंड गया,

गया। जहां गया वहां सम्मान और ऐश्वर्य पाया। देखने में सुन्दर, व्यवहार में सज्जन। कोई बुरी लत नहीं। अपनी पत्नी में ही संतुष्ट। उसने भी नंगी तस्वीरें बनाई, किन्तु उसकी नग्नता में वासना की बदबू नहीं, विधाता के सौन्दर्य-दान की झलक मिलती है।

ऐन्टवर्प में उसका घर यूरोप के तत्कालीन कलाकारो का तीर्थस्थान था। वहीं से उसने यूरोप के राजभवनों, गिरजाघरों और कलाकेन्द्रों के लिए तीन हजार से ज्यादा चित्र भेजे। फ्लोरेंस की एक महिला के लिए उसने चित्रों के अठारह पैनेल १३ फुट × १० फुट के, तीन कन्वास १३ फुट × २४ फुट के तथा आदमकद के कितने ही चित्र तैयार किये। माइकेल एंजेलो के सिस्टाइन चैपेल की चित्रावली से ही इसकी तुलना की जा सकती है।

रैम्ब्रांड—वह कलाकार, जिसे प्रकृति और समाज ने समान रूप से सताया, चूर-चूर किया, किन्तु जिसने पराजय नहीं स्वीकार की। हॉलैंड, लीडन में सन् १६०६ ई० में इसका जन्म हुआ था। मां चाहती थी, वह पादरी बने। पिता चाहते थे डाक्टर बने—किन्तु अपनी कापी पर वह तस्वीरें बनाता रहा। इक्कीस वर्ष में ही अपने शहर का प्रसिद्ध चित्रकार बन गया, दिन-रात काम करता, काफी पैसे मिलते, खूब खर्च करता, बीवी के लिए जवाहरात, अपने लिए चित्रों के नमूने खरीदने में कभी कंजूसी नहीं दिखाई।

किन्तु यह अवस्था न टिकी। बच्चे-पर-बच्चे हुए और मरते गए। बीबी भी चल बसी। कला में ऐसी मौलिकता लाने लगा कि लोग समझ नहीं पाते। सब लोग शरीर का चित्रण करते, वह आत्मा को चेहरे पर प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा करता। खरीददार कम होते गए, वह और भी धुन से अपनी नये प्रयोग में लगा। कर्ज! फिर कुर्की! एक चमार ने नीलाम में उसकी सारी जायदाद खरीद ली!

तो भी उसने हार न मानी। एक छोटे-से मकान में, बचे-खुचे सामान को लेकर उसने अपनी दुनिया बसाई। खाने को एकाध टुकड़ा मिल गया, वही बस। दरिद्रता उसके मन में कोई कटुता नहीं ला सकी। उसने जो चित्र बनाये, वे चित्रकला के अनुपम शृंगार समझे जाते

हैं। अभाव में, कष्ट में, संकट में 'संघर्ष में जो चीजें वह संसारको दे गया, उनके कारण अन्ततोगत्वा संसार की उसकी महत्ता स्वीकार करनी पड़ी और पीछे तो 'वान लून' ने उसकी ऐसी जीवनी लिखी, जिसकी उतनी कापियां बिकीं, जितनी किसी भी जीवनी की कभी नहीं बिकी थीं।

एल ग्रेको, क्रीट (ग्रीस) का वह कलाकार, जो बहुत दिनों तक विस्मृत रहा—और वेलास्क्वेज पुर्तगाली कलाकार—दोनों में वह अन्तर जो दस्तोवेस्की और हेमिंग्वे में—एक आन्तरिक पीड़ाओं और भावनाओं का चितेरा, दूसरा दुनिया की सतह का हूबहू चित्र रख देनेवाला। फिर वरमीयर, जिसने साधारण में विशेष का आरोपण किया। उसने देवी-देवता, राजा-रानी, अनुपम सुन्दरी असाधारण व्यक्तियों को छोड़कर पनिहारिन, अहीरिन, सोनारिन या शहर की एक साधारण गली या नदी-तट के एक साधारण दृश्य का ऐसा चित्रण किया कि वे कला के अनुपम नमूने बन गये। अहीरिन के जो चित्र उसने १६८६ में चौदह पौंड में बेचे थे, वही दो शताब्दी बाद चौबीस हजार पौंड (साढ़े तीन लाख रुपये) में खरीदे गए थे।

गोया—किसान का बेटा, शारीरिक शक्ति और मेधाशक्ति दोनों में राक्षस-सा। कलाकार, गवैया, तलवार चलाने में उस्ताद, डाकुओं का सरदार। फ्रांस के एक पहाड़ी गांव में पैदा हुआ। झगड़े में एक आदमी की हत्या करके स्पेन भाग गया। मैड्रिड में भी कलह हुआ तो रोम भागा। रोम में रंडियों का बाजार उसे सबसे प्रिय था और जब गिरजाघर की एक सधुइन पर लट्टू हुआ तो रात में चोरी से घुसकर मन्दिर से उसे उड़ा लाया! स्पेन लौटकर शादी की तो उसकी बीबी हमेशा गर्भ से ही रहती—बीस संतानें हुईं, जिनमें एक को छोड़ सबका असामयिक निधन हुआ!

कूची में भी वैसा ही कमाल। चार्ल्स छठे ने अपना दरबारी चित्रकार बनाया। किन्तु वहां भी वही बहक—सिंहासन, सेना, कानून सबके व्यंग्य चित्र बनाये जाते। पादरियों की सूरत ऐसी बिगड़ जाती कि राजा के हस्तक्षेप ने ही उसे जिन्दा जलाये जाने से बचाया—कृतज्ञता में उसके

गिरजाघर में तीन महीने के अन्दर सौ आदमकद चित्र बना दिये। लम्बी उम्र पाई थी—लगभग अस्सी वर्ष। कितने राजाओं को देखा, शहजादियों को देखा। एल्बा की डचेस का उसके जीवन में खास स्थान है—वह उसकी चित्रशाला में आया करती और कहा जाता है कि उसने जिस सुन्दरी का अनुपम नग्न चित्र बनाया है, वह यही सम्भ्रान्त महिला है।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि अबतक यूरोप की चित्रकला में कोई अंग्रेज नहीं आया? इंगलैंड के जिस चित्रकार ने यूरोप के कलाकारों में सबसे पहले स्थान पाया, वह होगार्थ है—सत्रहवीं शताब्दी के अंत में। अपने समय के अंग्रेज-जीवन का सही चित्रण करने में उसने कमाल किया है—कटु, मधु, क्रूर, दयालु, कामान्ध, साधु—सबको सही रूप उसने दिया। चित्रों में कथा अंकित कर देने की नई कला का आविष्कर्त्ता वही है। उसके जमाने में गैरिक मशहूर अभिनेता था। होगार्थ कभी उसका अभिनय देखने नहीं गया। वह कहता, "मेरी चित्रशाला ही मेरा रंगमंच है, उसके नर और नारी उसके नट और नटी। फिर मैं कहीं नाटक देखने क्यों जाऊं?"

एक अद्भुत चित्रकार था ब्लेक—जन्म से मृत्यु तक जो सपने देखता रहा और सपनों को जिसने मूर्तरूप दिया। यूरोप की कला अबतक 'मॉडेल' के आधार पर चलती रही। उसने गम्भीर घोष किया—"सामने मॉडेल रख लो और ऐसी तस्वीर बना दो कि आंखों को धोखा हो जाय—भला यह भी कोई कला है? यदि प्रकृति की नकल करना ही कला हो, तब तो कला हाथ का कौशल-मात्र है—उसे कोई भी कर सकता है और बेवकूफ सबसे अच्छा कर लेगा, क्योंकि दिमाग की उसमें जरूरत कहां?" यों अपने पूर्ववर्ती कलाकारों की भर्त्सना करता हुआ वह आगे कहता है, "अपनी कल्पना को उड़ान भरने दो। उसे तबतक विचरण करने दो जबतक तुम्हारी आंखें उसे मूर्तरूप में न देखने लगें। बस, कला की नींव तैयार हो गई।" दांते की 'डिवाइन कॉमेडी' का जो चित्रण उसने किया, इस नई कला की उत्कृष्टता का स्थायी प्रमाण है।

ब्लेक का ही कला-सहोदर टर्नर—दोनों इंगलैंड के। टर्नर ने कला को एक दूसरा ही रुख दिया। ब्लेक ने प्रकृति की उपेक्षा की, वह प्रकृति के गूढ़ रहस्यों की वैज्ञानिक की तरह छान-बीन करता और उन्हें मूर्तरूप देता रहा। वर्षों तक वह पैदल घूमता रहा, इंगलैंड के कोने-कोने को छान डाला और उन्हें चित्रों में अमर कर दिया। धरती से उसे प्रेम था और समुद्र से उससे भी अधिक। तूफानों में वह समुद्रों में चला जाता और अपनेको मस्तूल में बांध लेता कि तरंगों के उत्थान-पतन और बादलों के चढ़ाव-उतार को अच्छी तरह देख सके। उसने हजारों चित्रों के खाके बनाये और दो हजार तो पूरे चित्र हैं उसके ! अन्त में वह रहस्यवादी बन गया—पहाड़ों का चित्रण वह सूर्य-रश्मियों के पुंज में और नदी का चित्रण प्रकाश की धारा में करता।

अमरीका को जिसपर नाज है, वह है औडुवन। इसका जन्म फ्रांस में हुआ था। गरीब आदमी। जहाज पर नौकरी की, अमरीका में जा बसा। बचपन से ही कला में रुचि—अमरीका के पंछियों को उसने अपने चित्रण का मुख्य केन्द्र बनाया और वह संसार के कलाकारों में 'चिड़ियों के कलाकार' की हैसियत से प्रसिद्ध है, जिनके चित्रण के लिए वह जंगलों, समुद्र-तटों, झीलों आदि के इर्द-गिर्द, जीवन के अधिकांश भाग में, चक्कर काटता रहा। पंछी जब गति में, क्रिया में होते थे, तबका चित्रण उसे अधिक प्रिय था, इसीलिए उसके चित्र जीवनमय हैं, अमर हैं।

फिर फ्रांस के तीन कलाकार—दोमिये, माने और लाउत्रे। तीनों के तीन रंग। दोमिये—कारटून का पिता। राजा के व्यंग्यचित्र पर जेल की हवा खाई। किन्तु न झुका, न रुका। जिन्दगी-भर गरीबी में रहा—पेरिस में उसकी कुटिया में बड़े-बड़े लोग आते। एक दिन उनमें से एक कह रहा था—"अफसोस, दोमिये को इस बुढ़ापे में जीविका के लिए परेशान होना पड़ता है।" उसने सुन लिया. कहा,—"मेरी परेशानी की चिन्ता मत करो, तुम लोगों के पास रियासतें हैं, मेरे लिए जनता है और मैंने जनता का ही वरण किया है।" सोन नदी के किनारे गरीब मछुओं को देखकर उसके मुंह से आह निकली—"मेरी सांत्वना के लिए तो मेरी कला है, किन्तु हाय ! इन बेचारे गरीब मर्द-औरतों के लिए ?"

माने—यथार्थवादी चित्रण का आचार्य। बेचारे को यथार्थवादिता के लिए पूरी सजा भुगतनी पड़ी–'अश्लीलता का अवतार,' 'सनसनीवाद का पिता'—क्या-क्या उपाधियां उसे नहीं दी गई। लेकिन एक दिन उसका लोहा सबको मानना पड़ा। वह उन्नीसवीं सदी के सर्वोत्तम व्यक्तियों में गिना जाने लगा।

लाउत्रे—बड़े घराने का लाड़ला। घुड़सवारी में दोनों टांग तोड़कर पंगु बन गया। उसके बाद वह समाज के निम्न स्तर में घुसा—वेश्यालयों, शराबघरों, जुआ-अड्डों का वह अखाड़िया बन गया और उनके जीवन के ऐसे चित्र बनाये कि वे कला-भवनों के शृङ्गार बन गये। कहा जाता है, शब्दों की दुनिया में जो मोपासां का स्थान है, रंगों की दुनिया में वही लाउत्रे का है।

कहीं कलाकार इतना कुरूप होता है—वान गौघ को देखकर कोई भी कह उठता। लम्बी नाक, चिपटा मुंह, धंसी आंखें, मुड़े लाल बाल—एक साथ ही वह किसान, कैदी और ईसाई शहीद मालूम होता। जिन्दगी भर प्यार पाने को छटपटाता रहा, हमेशा ही दुत्कार पाई। एक बार एक वेश्या से प्यार चाहा तो उसने कहा,–"क्या उपहार में अपने कान दोगे ?" और, हजरत ने अपने कान काटकर भेज दिए !

लेकिन कुरूपता का बदला प्रकृति ने प्रतिभा का वरदान देकर प्रचुर मात्रा में चुकाया था। इस उच्च कलाकार ने अपनी कूची से जो रचनाएं कीं, वे संसार की उच्चतम कलाकृतियों में गिनी जाती हैं और जिस प्रदर्शनी में उसके चित्र रखे जाते हैं, वहां भीड़ लग जाती है। उसकी मृत्यु भी विचित्र हुई। कान काटने से जो घाव हुआ, उसके लिए वह अस्पताल गया। वहां एक दिन उसने अपने पेट में गोली मारकर बगल के रोगी से कहा,—"जरा निशाना आजमा रहा था।" और बस !

फिर सिजाने और अब हम आधुनिक चित्रकला में पहुंच गये। सिजाने की कला को ही लेकर पिकासो ने आधुनिक कला को जन्म दिया, जो अमूर्त, अभौतिक, बनकर अन्ततः छिटपुट रेखाएं और अस्फुट चिह्नों तक पहुंच गई है।

: ६ :

जो शब्दश: आचार्य थे

जब उस दिन संध्या को खबर मिली कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी नहीं रहे तो लगा, जैसे एक ज्योतिपुंज ग्रहपिंड, शायद बृहस्पति, आंखों के सामने ही टूटकर गिर पड़ा है। सारा वायुमंडल थर्रा उठा, फिर सन्नाटा... सन्नाटा।

ज्ञान, कर्म, साधना। मानव-जीवन की तीन अनुपम उपलब्धियां। अपने देश में बड़े-बड़े ज्ञानी हो गये हैं, कर्मवीरों की भी कमी नहीं रही। साधकों की संख्या भी बड़ी है, किन्तु एक ही पुरुष में ज्ञान, कर्म और साधना का पूर्ण समन्वय हुआ हो, ऐसे उदाहरण संसार में विरल हैं, अपने इस महादेश में भी। जहां ज्ञान वहां कर्म की कमी, जहां कर्म वहां साधना का अभाव। जहां तीनों एकत्र हों, वैसी त्रिवेणी तो किसी देश को परम सौभाग्य से ही मिल पाती है।

आचार्य नरेन्द्रदेव में इन तीनों का ऐसा समन्वय हुआ था कि आज जब वह नहीं रहे, देश के राष्ट्रपति से लेकर साधारण आदमी तक उनका अभाव अनुभव कर रहा है। लगता है, हमारे जीवन में, देश के जन-जीवन में, एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया है, जिसका भरा जाना सुदूर भविष्य में भी सम्भव नहीं।

यों तो 'आचार्य' शब्द का आजकल दुरुपयोग हो रहा है, किन्तु इस शब्द के साथ ज्ञान की जिस गरिमा और महिमा का बोध होता है, वह आचार्य नरेन्द्रदेव में पूर्णतः प्रतिफलित हुई थी। ज्ञान की विविध धाराएं उनमें आकर इस प्रकार समाहित हुई थीं, जिस प्रकार सागर में विविध नदियां। समाजशास्त्र के वह पंडित थे, दर्शन के प्रकांड विद्वान, अर्थशास्त्र और राजनीति के मर्मस्थल को भी वह छू सके थे। इतिहास के उत्सस्थान तक उनकी पहुंच थी। भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न अंगों का उन्होंने मनन किया था, यूरोपीय दर्शन के अनुशीलन की ओर उनका अनुराग था।

कई भारतीय भाषाओं और यूरोपीय भाषाओं में उनकी पैठ थी। ज्ञान की किसी धारा के सम्बन्ध में उनसे बातें कीजिये, लगता था, आप किसी वायुयान चालक की बगल में बैठे है, जो आपको ऊंचे-से-ऊंचे ले जाकर अंतरिक्ष के उन रहस्यों को प्रत्यक्ष दिखला रहा है, जिनकी आपने कल्पना तक नहीं की थी।

भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन ने उन्हें अधिक आकृष्ट किया था। भारतीय दर्शन का चरम उत्कर्ष वह बौद्धधर्म में मानते थे। इसी प्रकार यूरोपीय दर्शन में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक दर्शन को वह आधुनिक युग के लिए प्रकाश-स्तम्भ समझते थे। ज्ञान के क्षेत्र में वह पूरब पच्छिम के भेद को नहीं मानते थे। ऐसा करना वह ज्ञान को सीमाओं में बांधने की तरह गर्हित मानते थे। इसीलिए वह अन्त तक अपनेको मार्क्सवादी कहने में नहीं हिचकते थे। किन्तु यहां भी उनका मार्क्सवाद कट्टरता का सहचर नहीं था। हर दर्शन की तरह मार्क्सवादी दर्शन को भी वह विकासशील समझते थे और इसमें शक नहीं कि उसके भारतीय प्रयोग में उन्होंने अनेक नई कड़ियां जोड़ी थीं। चूंकि उन्होंने अपनेको सदा घनघोर राजनीति में रखा, अतः उनके द्वारा जोड़ी गई उन कड़ियों पर निरपेक्षता से ध्यान नही दिया जा सका, किन्तु अब जब वह नहीं रह गये, उनकी ओर लोगों का ध्यान जायगा ही।

उनके ज्ञान के सम्मुख उन्हे भी सिर झुकाना पड़ता था, जो राजनीति में उनके विचारों से सहमत नहीं थे। श्री पट्टाभि सीतारमैया ने अपने अहमदनगर-जेल के संस्मरण में लिखा है कि हमारे साथ जो लोग थे, सब-के-सब अपने विषय में अन्यतम थे। सरदार पटेल, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि की विशेषताओं की चर्चा करते हुए 'विद्वत्ता में अन्यतम' उन्होंने आचार्य नरेन्द्रदेव को ही माना था।

अपने इस अगाध ज्ञान का उन्होंने उन्मुक्त दान दिया। काशी विद्यापीठ के आचार्य की हैसियत से उन्होंने देश को कितने ऐसे स्नातक दिये, जो देश के विभिन्न क्षेत्रों में जाज्वल्यमान नक्षत्र की तरह चमक रहे हैं। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि स्वतंत्र भारत को जितने योग्य शासक, जितने जनसेवक आचार्यजी ने दिये, उतने किसी भी एक

व्यक्ति या संस्था ने नहीं दिये। देवघर से दिल्ली तक उनके शिष्यों का जाल फैला है, और जो जहां है, वहां अपनी योग्यता और कर्मठता का सिक्का जमाये हुए हैं।

उत्तर भारत के दो प्रमुख ज्ञान-केन्द्रों, लखनऊ विश्वविद्यालय और हिन्दू विश्वविद्यालय का उपकुलपति के रूप में सफल संचालन करके उन्होंने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में अपनी स्थायी छाप छोड़ी है। निकट से जाननेवाले जानते हैं कि इन संस्थाओं का संचालन-सूत्र उन्होंने किस अव्यवस्थित दशा में सम्हाला था और जब उन्होने इनसे विदा ली, किस सुव्यवस्था में इन्हे छोड़ा। शिक्षा, भाषा, लिपि, आदि के लिए जब-जब किसी आयोग की रचना की गई, आचार्यजी को भुलाया नहीं जा सका और उनमें उनकी स्थिति अध्यक्ष की रही हो या सदस्य की, उनकी रिपोर्टों में आचार्य के व्यक्तित्व की छाप अलग से ही परिलक्षित होती थी।

प्रायः देखा जाता है, जो ज्ञान के क्षेत्र का महान व्यक्तित्व है, वह कर्म के क्षेत्र में बौना ही सिद्ध हुआ है। आचार्य नरेन्द्रदेवजी इसके विपरीत उदाहरण थे। एक मेधावी विद्यार्थी की हैसियत से ही देश के सार्वजनिक कार्यो में उन्होंने सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया था और जब महात्मा गांधी ने असहयोग-आन्दोलन का शंखनाद किया, उनके आह्वान पर पहली कतार में खड़े होनेवाले राष्ट्रकर्मियों मे वह थे। वकालत छोड़कर वह सक्रिय राजनीति के क्षेत्र मे आये और काशी विद्यापीठ के आचार्य-पद को सुशोभित करते हुए वह जन-आन्दोलन को कभी नही भूले और न अपने सहयोगियो और शिष्यों को ही भूलने दिया। काशी विद्यापीठ सिर्फ विद्यापीठ नहीं थी, वहां ज्ञान के साथ कर्म का पाठ भी पढ़ाया जाता था और वहां के शिक्षकों और छात्रों ने देश की स्वतन्त्रता के युद्ध में वह शानदार हिस्सा लिया कि अपने नामों के साथ अपनी इस संस्था को भी अमर कर दिया।

१९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन के साथ पूर्णरूप से आचार्यजी राजनीति के कर्मक्षेत्र में कूद पड़े। राजनीति में भी पिटी-पिटाई लीक पर न चलकर उन्होंने एक नया कदम रखा। उनका गहरा अध्ययन उन्हें

समाजवाद की ओर उन्मुख कर चुका था, अतः जब १९३४ में अखिल भारतीय समाजवादी दल का संगठन हुआ, उसका अध्यक्षपद स्वभावतः उन्हें अर्पित किया गया। यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि जब समाजवादी दल के संगठन के लिए हम पटना में प्रारम्भिक अधिवेशन करने जा रहे थे तो पं० जवाहरलाल नेहरू के ही सत्परामर्श से हमने आचार्यजी को उसका अध्यक्ष चुना था। तबसे मृत्यु-पर्यन्त वह इस दल के प्रमुख स्तम्भ रहे। यह भी विधाना का ही विधान है कि समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप में ही उन्होंने अखिल भारतीय राजनीति में प्रवेश किया और दल के अध्यक्ष की हैसियत से ही उनका स्वर्गारोहण हुआ। दल का बाईस वर्षों का जीवन उनके जीवन के साथ ओत-प्रोत रहा।

समाजवादी दल ने कांग्रेस के अन्दर रहकर काम करना तय किया था। आचार्यजी ने कांग्रेस को क्या दिया, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि अपनी मृत्यु के पहले महात्माजी कांग्रेस की गद्दी पर आचार्यजी को अधिष्ठित करना चाहते थे। यदि ऐसा हो गया होता तो भारत के इतिहास ने एक नया ही मोड़ लिया होता। अपने गहरे ज्ञान और अथक कर्मशीलता के कारण वह एक युग तक उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस का सूत्र संचालन करते रहे। जब १९३७ में भारत में प्रथम बार कांग्रेसी मंत्रिमंडल की स्थापना हुई तो उत्तर प्रदेश का मुख्य-मंत्रित्व उनको सौंपने की इच्छा प्रकट की गई थी, किन्तु चूंकि समाजवादी दल ने अपने सदस्यों को किसी पद के ग्रहण करने से मनाही कर दी थी, आचार्यजी ने अनेक आग्रहों के बावजूद अपनेको इस पद से अलग ही रखा। समाजवादी दल के इस निर्णय में आचार्यजी का प्रमुख हाथ था। तो भी पं० जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस-कार्यसमिति में उन्हें सादर सम्मिलित किया और उसके सदस्य की हैसियत से देश के गाढ़े अवसर पर देश की रहनुमाई में उन्होंने जिस योग्यता से हाथ बंटाया, उसे कौन नहीं जानता ?

जब समाजवादी दल में कांग्रेस से पृथक् होने की चर्चा छिड़ी, आचार्यजी इस विचार के विरोधियों में थे। उन्होंने अपनी स्वाभाविक

विनोदमयी भाषा में कहा था, "हम वैसे आशिक हैं, जो माशूक के दरवाज़े पर तबतक पड़े रहेंगे जबतक वह बेवफा हमारी गर्दन में हाथ लगाकर अपने अहाते से बाहर न कर दे।" किन्तु जब बम्बई में कांग्रेस ने यह निर्णय किया कि कांग्रेस के अन्दर किसी पार्टी का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता तो उन्हीं की अध्यक्षता में नासिक में कांग्रेस से अलग हो जाने का निर्णय किया गया। आचार्यजी के कितने ही प्रिय साथी और शिष्य उनसे बिछुड़ गए, किन्तु वह अपनी जगह पर अटल और अडिग डटे रहे।

समाजवादी दल ने किसानों और मज़दूरों के संगठन की ओर ध्यान दिया। मजदूरों का संगठन तो कुछ था ही, किन्तु भारतीय किसानों का कोई संगठन नहीं था। जब पहली बार अखिल भारतीय किसान-सम्मेलन का आयोजन किया गया, सर्वसम्मति से उसका अध्यक्ष आचार्यजी को ही चुना गया। उसके अध्यक्ष-पद से दिया गया उनका भाषण भारतीय किसानों की आकांक्षाओं और आशाओं का वह दस्तावेज है, जो आज भी अपना मूल्य नहीं खो सका है। जब दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ा, फिर दूसरी बार अखिल भारतीय किसान-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने भारतीय किसानों को क्रांति के लिए आह्वान किया और १९४२ की क्रांति में भारतीय किसानों ने जो योगदान दिया, आचार्यजी को उसमे बड़ा ही सन्तोष था।

आचार्यजी साम्राज्यवाद से समझौते के घोर विरोधी थे। देश के बंटवारे का उन्होंने जबर्दस्त विरोध किया था। इसी प्रकार भारत अंग्रेजी कामनवेल्थ के अन्दर रहे, यह स्थिति भी उनके लिए असह्य थी। किन्तु उनके विरोध में कहीं कटुता या व्यक्तिगत ईर्ष्या, द्वेष का नाम न था। वह सदा एक ऐसे ऊंचे स्तर से बोलते थे कि जिनका वह विरोध करते थे, वे भी उनकी कदर करते थे। राजनीति में व्यक्तिगत राग-द्वेष को वह सदा घृणा की दृष्टि से देखते थे और अपनेको सदा उससे दूर रखते थे। गांधीजी से कई बातों में उनका मतभेद था, किन्तु आचार्यजी के इन्हीं गुणों के कारण गांधीजी का पूर्ण स्नेह उन्हें प्राप्त था। क्रिप्ससाहब दिल्ली पहुंचे, उन दिनों की बात है। देश के भाग्य-निर्णय के विषय में गम्भीर शंपराम

चल रहा था। गांधीजी दिल्ली छोड़कर वर्धा को चले। पत्र-प्रतिनिधियों ने उनसे पूछा, "आप कुछ दिन और क्यों नहीं ठहर जाते ?" गांधीजी ने जवाब दिया, "एक डाक्टर अपने रोगी को किस प्रकार भूल सकता है ?" वह रोगी और कोई नहीं, आचार्य नरेन्द्रदेव थे, जो उन दिनों दमे से अत्यधिक पीड़ित होकर गांधीजी के निमन्त्रण पर सेवाग्राम पहुंच गये थे और गांधीजी उनकी प्राकृतिक चिकित्सा कर रहे थे।

उनके दुबले-पतले शरीर को दमे ने बहुत दिनों से झकझोर रखा था, किन्तु इस असाध्य और कष्टदायक रोग के बावजूद उन्होंने अपने कार्य में कभी कमी या त्रुटि नहीं आने दी। इस रोग से लड़ते हुए भी वह दिन-रात काम में लगे रहे। पिछली गर्मियों की बात है। समाजवादी दल में फूट पड़ी थी। उसके अस्तित्व पर संकट के बादल मडराते दीखते थे। अचानक आचार्यजी ने उत्तर प्रदेश और बिहार का दौरा शुरू कर दिया। इन पंक्तियों के लेखक ने काशी में उनसे कह दिया, "यह आप क्या कर रहे हैं ?" उन्होंने अपनी स्वाभाविक मुस्कान से कहा, "सवाल आ गया है, मैं अपनेको बचाऊं और पार्टी को मरने दूं, या पार्टी को जीवित रखा जाय और अपनेको मारूं ? मैंने इस दूसरे को चुन लिया है।"

किन्तु यहां समझ लेना है कि पार्टी का अर्थ उनके सामने क्या था ? पार्टी का संकुचित रूप उनके सामने कभी नहीं रहा। जनतन्त्र के साथ वह विरोधी पक्ष की नितान्त आवश्यकता समझते थे और विरोधी पक्ष सत्तारूढ़ पक्ष से अधिक क्रांतिकारी हो, तभी देश का कल्याण सध सकता है। विरोधी पक्ष छोटा ही क्यों न हो, किन्तु उसकी आस्था दृढ़ होनी चाहिए; उसके कदम सही पड़ने चाहिए, उसमें उच्च चरित्र और अटूट अध्यवसाय होना चाहिए, तब छोटा होकर भी वह सत्तारूढ़ पक्ष को प्रभावित कर सकेगा।

कर्म ! कर्म ! कर्म ! उनका सारा जीवन कर्ममय था। जब मृत्यु का घेरा उनके निकटतर पहुंचता जाता था, उन्होंने अपने कर्म-दीपक की लौ को और भी ऊंचा कर दिया था। मृत्यु के तीन दिन पूर्व वह पार्टी की कार्यसमिति में जाकर एक घण्टे तक अपना विचार सुना आये थे।

अपने 'बौद्ध दर्शन' के शेषांश को पूरा करने में वह अन्त तक लगे हुए थे। देश का हित-चिन्तन करते हुए ही उनकी अन्तिम सांस टूटी।

आचार्य नरेन्द्रदेव उन साधकों में थे, जिनकी साधना पर देश को सदा अभिमान रहेगा। इस दृष्टि से वह आर्य ऋषियों की कोटि में थे, सारे जीवन को मोमबत्ती की तरह घुलघुलकर उन्होंने जलाया कि दूसरों को—समाज को, देश को, संसार को प्रकाश मिलता रहे। उनका जीवन ऋषियों का जीवन था—त्यागमय, तपस्यामय। भोग का, वैभव का कभी सपने में भी उन्होंने विचार नहीं किया। उन्होंने सदा अपनेको अकिंचन रखा। एक बार पूज्य राजेन्द्रबाबू ने सदाकत-आश्रम में, स्वराज्य से पूर्व, कार्यकर्ताओं को सावधान करते हुए कहा था, "जहां तपस्या होती हैं, उसे विचलित करने के लिए, अपने पुराणों में कहा गया है, अप्सराएं आती हैं, ऋद्धि-सिद्धियां आती हैं, आप लोग सावधान रहियेगा।" आजादी के बाद हमारे तपस्वियों के निकट इनका हंगामा-सा जुट गया, और कितने लोग हैं, जो विचलित होने से बचे? उन इने-गिने लोगों की जब मणिमाला बनाई जायगी, आचार्यजी उसके 'सुमेरु' सिद्ध होंगे। वह क्या नहीं प्राप्त कर सकते थे, किन्तु कभी निगाह उठाकर भी उनकी ओर नहीं देखा।

बड़े-से-बड़े आदमी की सबसे बड़ी कमजोरी होती है कीर्ति-लालसा। कीर्ति के लिए, यश के लिए, प्रसिद्ध के लिए वे लोग भी झुक जाते हैं, जो संसार के सारे ऐश्वर्यों को ठुकराने से नहीं झिझकते। कीर्ति-लालसा पर अंकुश रखना संसार की सबसे बड़ी साधना है। इस साधना की कसौटी पर भी आचार्यजी को कई बार कसा गया और वह सदा खरे निकले। वह अजातशत्रु थे, किन्तु प्रमादवश जिन्होंने अपनेको उनका प्रतिद्वन्द्वी समझा था, उनके सिर भी आचार्यजी की इस साधना के निकट अनेक बार झुके और अपनी मृत्यु के बाद तो आचार्यजी ने सिद्ध कर दिया कि यथार्थतः उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी था ही नहीं। वह सबके थे, उन्हें खोकर सारे देश ने अनुभव किया, उसने कोई अपना खोया है। आचार्यजी की अनुपम साधना की यह सबसे बड़ी विजय है।

ज्ञानी, कर्मयोगी, साधक इन तीनों आचार्य नरेन्द्रदेव के अतिरिक्त एक और आचार्य नरेन्द्रदेव थे, वह थे मानव नरेन्द्रदेव। और यह मानव

नरेन्द्रदेव इन तीन आचार्य नरेन्द्रदेव से ऊपर थे, यह कहने की धृष्टता मैं इसलिए करता हूं कि उनके निकट सम्पर्क में आनेवाले मेरे-जैसे छोटे व्यक्तियों को उसी नरेन्द्रदेव ने सबसे अधिक प्रभावित किया था। उनका दरबार सबके लिए खुला था। हां, सचमुच उनका दरबार लगता था। किन्तु उसके दरवाजे पर न कोई चोबदार होता और न अगल-अगल दर्जे के 'मनसबदार'। वहां सबका अबाध प्रवेश था, सबके लिए एक-सा आसन था। सबका स्वागत घनी मूंछों के नीचे की अमंद मुस्कराहट से होता था, सबकी कुशल-वार्ता झुर्रीदार चेहरे पर सतत खेलनेवाले उल्लास से पूछी जाती थी। वहां विद्यार्थी आते थे, शिक्षक आते थे, आचार्य आते थे, कुल-पति आते थे, कार्यकर्ता आते थे, नेता आते थे, राज्य-कर्मचारी आते थे, मिनिस्टर आते थे, कवि आते थे, लेखक आते थे, किसान आते थे, मजदूर आते थे, सेठ आते थे, तालुकेदार आते थे, देवियां आती थीं, देवता आते थे—सबकी अपनी-अपनी समस्या, सबकी अपनी-अपनी बात। और सबके लिए एक-सा सरल, सादा, निष्कपट, निश्छल निबटारा। क्या कोई उस दरबार से निराश लौटा? जिसे कुछ न मिला, जिसे कुछ खोना पड़ा, उसने भी अनुभव किया, वह जो मांगने आया था, उससे भी अधिक उसे मिल गया; जो खो दिया, उससे अधिक वह पा गया। बात-बात में चुहल, बात-बात में विनोद। कड़वे घूंट भी मिश्री में घुले। वहां से मुहर्रमी चेहरे भी मुस्कराहट लिये निकलते।

इस मानव आचार्य नरेन्द्रदेव में एक चुम्बकत्व था। उस चुम्बकत्व का अनुभव उनके निकट जानेवाले तुरन्त ही अनुभव करने लगते थे। लगता था, किसी अदृश्य डोर से वह निकटतर खिंचे जा रहे हैं। लखनऊ वही है, किन्तु कौन किसीको स्टेशन से सीधे खींचकर नए हैदराबाद की उस नन्हीं काटेज तक ले जायगा? चुम्बक उठ गया। हम लौहखंड सच-मुच लौहखंड बन गए—ठंडे, निर्जीव, निस्पंद।

: ७ :

कोई सुखी नहीं

आन्द्रे मावरोई फ्रांस का सुप्रसिद्ध लेखक है। अपनी लेखनी के कारण उसने विश्वव्यापी कीर्ति पाई है। पैसे भी खूब कमाये हैं। जीवनी लिखने में तो उसने कमाल हासिल किया है। शेली की जीवनी उसने जब 'एरियल' के नाम से प्रकाशित की, साहित्य-संसार में उसकी धूम मच गई। जब वह आदमी अपनी आत्मकथा का नाम 'कौल नो-मैन हेपी'—('संसार में कोई सुखी नहीं') रखता है तो आश्चर्य होता है।

यह आत्मकथा उसने पिछले महायुद्ध में फ्रांस के पतन के बाद लिखी थी, जब वह अपने देश से भागकर अमरीका चला गया था। स्वभावतः उसके जीवन पर उन दिनों दुःख और शोक की काली घटा छाई थी। इस आत्मकथा के पन्ने-पन्ने पर वह छाया परिलक्षित होती है।

मध्यवर्ग के एक व्यापारी का पुत्र। पढ़ने-लिखने में बहुत तेज। अनायास अपने वर्ग में प्रथम आता रहा। लेख लिखने की अखिल फ्रांसीसी प्रतियोगिता में प्रथम आया। एम० ए० की पढ़ाई समाप्त करने के बाद फौजी शिक्षा ली। फिर अपने खान्दानी पेशे में लगा—ऊन की एक मिल थी, उसके संचालन का भार लिया, बड़ी योग्यता से चलाया। मिल की आय काफी बढ़ गई।

इसी समय एक लड़की से परिचय। बड़ी सुन्दरी, किन्तु अनाथ। उसे इंग्लैंड भेजकर पढ़ाया, फिर शादी की। शादी के प्रारम्भिक दिन बड़े मजे में कटे। अचानक १९१४ की लड़ाई शुरू हुई। फौज में भर्ती हुआ। अंग्रेजी जानता था, इसलिए अंग्रेजी फौज के साथ दुभाषिए के रूप में रखा गया।

बचपन से ही लेखक बनने की आकांक्षा। उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्ति। एक उपन्यास लिखा। छापने को भेजा, लेकिन प्रकाशित नहीं

कराया। युद्धभूमि में लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी। 'कर्नल ब्रैम्बल' नामक पुस्तक यहीं लिखी। मित्रों ने कहा, "छपवाश्रो।" लेकिन छपे कैसे? फौजी जीवन का चित्रण—खासकर अंग्रेजी अफसरों का। चित्रण में उज्ज्वल पक्ष ही; लेकिन फौज आखिर फौज है। तय हुआ, किसी उपनाम से प्रकाशित हो। मूल नाम था इमिल हर्जोग। उपनाम रखा—आन्द्रे मावरोई—आन्द्रे, चचेरा भाई जो इस युद्ध में मारा गया था, मावरोई एक गांव का नाम, जिसके करुण सौन्दर्य से वह विशेषतः प्रभावित था। आगे चलकर यही नाम जगद्विख्यात हुआ।

अध्ययन के दिनों में मावरोई एक अध्यापक से बहुत प्रभावित हुआ था, उसका नाम था अलेन। दर्शन का अध्यापक था, मौलिक विचारक। उसके कुछ विचारोत्तेजक कथन देखिये—सत्य के सम्मुख सम्पूर्ण हृदय से जाओ। सोलह वर्ष की उम्र में जो अराजकतावादी नहीं हुआ, उसमें तीसवें वर्ष में इतनी शक्ति नहीं रह जायगी कि भाड़ झोंके। अब भगवान को ही आदमी के निकट आना है। किसी भी प्रमाण का मेरे निकट कोई मूल्य नहीं। छः महीने के रास्ते को छोड़कर वर्ष-भर का रास्ता पकड़ो। छोटे दिमाग के लोग तो छोटे दिल से प्रशंसा करते हैं।

अपनी इस आत्मकथा में मावरोई ने बताया है कि वह क्यों सदा मध्यम मार्ग पकड़ता रहा। अलेन के प्रभाव से कुछ दिनों तक वह समाजवादी हुआ; लेकिन मुख्यतः वह सुधारवादी ही है। हां, अपने देश फ्रांस के लिए उसमें असीम भक्ति है और वह अंग्रेजी शिष्टाचार का उपासक है। वह किपलिंग को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखता था और उससे मुलाकात भी की थी।

पहले युद्ध से लौटने के बाद उसकी प्रवृत्ति साहित्य की ओर झुकी।

'कर्नल ब्रैम्बल' की बड़ी तारीफ हुई; संस्करण-पर-संकरण होते गए। पांच हजार, दस हजार, बीस हजार, पचास हजार। बड़े-बड़े लोगों ने तारीफ लिखी—अनातोले फ्रांस ने भेंट करने को बुलाया। अंग्रेजी कमांडर-इन-चीफ ने भी तारीफ की और फ्रांस के तत्कालीन राष्ट्रपति क्लीमेंसो ने भी बधाई दी।

अब व्यापार के साथ पुस्तक-लेखन, दिनभर मिल की निगरानी,

शाम और रात को लिखना-पढ़ना। कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। फ्रांस के सुप्रसिद्ध लेखकों से जान-पहचान। जीदे से चार्ल्स दुबोस, एने देसजार दिन्स आदि से। एक बार जीदे ने पूछा—

"अब क्या लिख रहे हो?"

"शेली की जीवनी।"

"क्यों? मेरे घर आओ न, उसे ज़रा देख लूंगा। तुम्हारा घर यहां से दूर नहीं है।"

"किन्तु, पुस्तक पूरी नहीं हुई है।"

"यही तो चाहिए। जो चीज पूरी हो गई होती है, उसमें मेरी दिलचस्पी नहीं रहती। अधूरी चीज को ही तो कुछ सुधारा जा सकता है।"

शेली की इस जीवनी का नाम रखा गया 'एरियल'। 'एरियल' ने मावरोई की धाक साहित्य-जगत में जमा दी। अब उसने तय किया कि व्यापार में अपना समय नहीं लगावेगा। उसे भाई-भतीजों को सौंपकर सरस्वती की पूर्ण आराधना में लग गया। इंगलैंड गया, बड़े-बड़े लोगों से मिला। वहां भी प्रशंसा-ही-प्रशंसा मिली।

पारिवारिक जीवन में तीन बच्चे आये—दो बेटे, एक बेटी। किन्तु पत्नी इधर उदासीन रहने लगी। धीरे-धीरे वह बीमार हुई और चल बसी।

शोक में ही निमग्न था कि एक दूसरी स्त्री ने प्रवेश किया—ऐसी स्त्री, जिसका सम्बन्ध फ्रांस के बड़े-बड़े लोगों से था। आन्द्रे जब उसके बारे में लिखना शुरू ही करता है तो तुरन्त कल्पना होती है, यह स्त्री उसकी कुछ होने तो नहीं जा रही? मार्सेल प्राउस्ट, अनातोले फ्रांस ऐसे लोग इसपर तभी आसक्त थे, जब यह छोटी बच्ची थी। सुन्दर चेहरा, सुन्दर व्यवहार, सुन्दर लिखावट। और अन्ततः यही होता है, वह मावरोई की अर्धांगिनी बन जाती है—योग्य अर्धांगिनी। यह एक बड़े खान्दान से थी, जहां फ्रांस के प्रेसिडेन्ट, प्रधानमंत्री, महान कलाकार, बड़े-बड़े सेनापति आया करते थे। इस विवाह से मावरोई ने बहुत-कुछ प्राप्त किया।

इसी प्रसंग में मावरोई ने फ्रांस के दो राजनीतिज्ञों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—पोईकेर और ब्रियां का। दोनों आन्द्रे की ससुराल के परिवार में आते, किन्तु कभी एक समय नहीं। पोईकेर वकील, ब्रियां कवि। पोईकेर को तथ्य और अंक चाहिए, ब्रियां को इससे घृणा। पाईकेर अपना भाषण अपने हाथों से लिखकर तैयार करता, ब्रियां सिगरेट बनाता, धुआं उड़ाता, धुआंधार बोलता जाता। पोईकेर को जनमत से भय बना रहता, ब्रियां अपने बारे में लिखी गई आलोचना को पढता भी नहीं। एक कहावत मशहूर थी—पोईकेर जानता सब कुछ है, किन्तु समझता कुछ नहीं और ब्रियां जानता कुछ नहीं, समझता सबकुछ है। दोनों की ईमानदारी उच्चकोटि की। एक बार अपनी किताब का प्रूफ भेजना था, तो अपने सेक्रेटरी से पोईकेर ने कहा—देखो, यह मेरा निजी काम है। मिनिस्ट्री के किसी चपरासी को मत भेजो। यह लो पांच फ्रांक, किसी आदमी को देकर भेज दो। और ब्रियां के पास तीन करोड़ फ्रांक विदेशी विभाग के थे, जिसे खर्च करने का एकमात्र अधिकार उसीको था, किन्तु जब उसने आफिस छोड़ा, पूरी रकम एक-एक पाई लौटा दी। उसके बाद जो मंत्री हुए, उन्होंने ब्रियां के बारे में कहा था—उसमें जो कुछ ऐब ढूढ़िये, वह ईमानदार हद दर्जे का था। यदि वह चाहता तो इन पैसों से कुछ ही अखबारों पर खर्च करके फ़ांस का राष्ट्रपति मजे में बन सकता था।

इस नई दुलहिन के बाद आन्द्रे के जीवन का नया क्रम शुरू हो जाता है। नई-नई रचनाएं, नए-नए अनुभव। अमरीका की यात्रा। अमरीका के जीवन और यौवन से प्रभावित। एक मित्र को लिखा—"आओ, यदि जीवन और मानवता पर विश्वास हो तो अवश्य आओ। आओ, कुछ महीनों के लिए आओ और कई सदियों की नौजवानी हासिल करो।"

इसी समय एक दुष्ट आलोचक से उसका पाला पड़ा। 'एरियल' की आलोचना करते हुए उसने तुहमत लगाई कि आन्द्रे ने अंग्रेजी जीवन की भद उड़ाई है। आन्द्रे बहुत अंशों में अंग्रेजी जीवन का भक्त, फिर यह तुहमत ! मारवोई ने इन निन्दकों के विषय में लिखा है—"हमारे सर्वोतम काम

हमारे लिए उतने मित्र नहीं पैदा करते, जितने शत्रु हमारी छोटी-छोटी भूलें पैदा कर देती हैं। अनजाने ही मैंने कुछ लेखकों के दिल दुखाये—अपने आध्यात्मिक गुरुओं में उनके नाम नहीं गिनाये, अपने घर बुलाकर उन्हें दावतें नहीं खिलाई, उनके लेखों की तारीफ नहीं लिख भेजी और सबसे बढ़कर उन्होंने जो अपनी पुस्तकें भेजीं, उनपर प्रशंसात्मक आलोचना नहीं लिखी। यह मेरी बड़ी भूल थी।" लेकिन इस निन्दा के कारण फ्रांस के सुप्रसिद्ध लेखकों ने मावरोई के पक्ष में लेखनी उठाई—हानि से अधिक लाभ हुआ।

अनेक रचनाओं में 'वायरन' फिर चमकी। शेली से अधिक इसपर मेहनत भी की गई थी। वायरन के घर को देखा उसके जीवन से सम्बन्धित स्थानों को देखा, उसके अप्रकाशित पत्रों को पढा, तब इसे लिखना प्रारम्भ किया। 'शैली' जैसी रोचकता इसमें नहीं, किन्तु विद्वानों से यह बहुत आदर पा सकी।

लड़ाई के बाद फ्रास की दुर्दशा। मंत्रिमंडल बनते, बिगड़ते। पूंजीपतियों और मजदूरों में संघर्ष। सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों में संघर्ष। उधर जर्मनी में हिटलर का उदय। फ्रांस पर खतरा। साहित्यिक का कोमल हृदय जर्जरित। किन्तु क्या करे बेचारा? रचनाएं चलती रहीं—खासकर जीवनियां, जिसके लिए उसे प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी और बीच-बीच में उपन्यास। उसके लिखे 'इंगलैंड का इतिहास' का भी अच्छा स्वागत हुआ।

और अन्त में सबसे बड़ा सम्मान—फ्रेंच अकादमी की सदस्यता प्रदान की गई। फ्रेंच अकादमी यह अजीब संस्था! इसके सदस्यों की संख्या उस समय उनतालीस थी। मावरोई को पहली बार असफलता मिली थी। एक मित्र ने कहा, "घबराओ नहीं, विक्टर ह्यूगो को तीन बार असफलता मिली थी। इकतीस वोट में तुम्हें ग्यारह मिले, यह सौभाग्य भी क्या कम है?" किन्तु इस दूसरी बार मार्शल पेतां जैसे लोग उसके समर्थक थे। सदस्यता की दरखास्त पर भी बहुत-कुछ निर्भर रहता है—वह संक्षिप्त हो, उसमें सादगी हो, उसमें अलंकार न हो, फिर उनतालीस व्यक्तियों से मिलना, जिनमें लेखक हैं, वैज्ञानिक हैं, सेनापति हैं, मंत्रि हैं,

राजदूत हैं। एक-से-एक बढ़कर। मावरोई का प्रतिद्वंद्वी भी मामूली नहीं था। बडी कशमकश रही। अन्त में उन्नीस-तेरह वोट से विजय मिली। विजय के बाद उसका अकादमी-भवन में शाही स्वागत। २ जून, १९३९।

और, उसके बाद, मावरोई लिखता है—जब-जब अनुभव किया कि मैं बहुत सुखी हूं, अप्रत्याशित आपत्ति आ ढही। शायद देवताओं को मनुष्य के आनन्द से ईर्ष्या होती है।

जर्मन ने दूसरे विश्वयुद्ध का प्रारम्भ कर दिया। पोलैंड पर चढ़ाई। मावरोई के दोनों बेटे, दामाद युद्ध-क्षेत्र में गये। उसने भी अपनी सेवा अर्पित की। अंग्रेजी जानने के कारण वह फिर अंग्रेजी फौज का ल्याजां अफसर बनाया गया।

युद्ध के समय फ्रांस की हालत—नौजवानों में जोश, सैनिकों में जोश, किन्तु अस्त्र-शस्त्र प्राप्त नहीं। न बन्दूक, न तोप, न वायुयान, न गोले। क्या खाकर वे जर्मनों को रोक सकेंगे! मेजिनो लाइन—किन्तु यदि जर्मन सेना बेल्जियम के रास्ते से आ गई तो? और वही हुआ। जर्मन-सेना बाढ़ की तरह बढ़ती आई, फ्रांस को पदाक्रांत किया। मावरोई मुश्किल से इंगलैंड पहुंचा और बी० बी० सी० के माइक से बोला—आप फ्रांस की मदद कीजिए, किन्तु कब? १९४१ में नहीं, अगले महीने नहीं, कल नहीं—आज इसी घड़ी, इसी क्षण। किन्तु क्या सम्भव था?

फ्रांस का पतन हुआ। जब इस पतन का समाचार मावरोई को मिला, वह कमरे के भीतर चला गया, बिछावन पर बेतहाशा गिर गया और बच्चों की तरह फफक-फफककर रोने लगा।

इंगलैंड से अमरीका। वहीं यह आत्मकथा लिखी—न्यूयार्क सिटी, ८ अक्तूबर, १९४१—पुस्तक के अन्त में यह दर्ज है।

: ८ :

विनोबा के साथ दो दिन

"आप लोग तो भ्रमर हैं। जहां सुगन्ध होगी, बिना बुलाये पहुंच जायंगे। मैं जो काम कर रहा हूं, लगता है, उसमें वह सुगन्ध नहीं आ सकी है कि आप लोग पहुंच सकें। किन्तु निवेदन करूंगा, देश में जो एक महान क्रान्ति हो रही है, आप उसे देखें।"

"वाणी द्वारा ही भीतर और बाहर का मिलन होता है। वाणी ही अन्तर्जगत का बहिर्जगत से समागम कराती है। आप उसी वाणी के वरद पुत्र हैं। आपकी वाणी का वरदान इस यज्ञ को भी प्राप्त हो, यही मेरी कामना है। किन्तु यह वरदान आप तभी दें, जब वह हृदय से निकले। हृदय में स्फुरण न हो, तब भी आप कुछ कहेंगे तो वह फलदायी नहीं होगा। हृदय से निकली वाणी ही हृदय को स्पर्श करती है।"

ऊपर के ये दो उदाहरण मैं अपनी डायरी के पन्नों से दे रहा हूं, जो ३-८-५३ को गया में लिखे थे। संत विनोबा के प्राइवेट सेक्रेटरी का तार पाकर मैं उनसे मिलने गया पहुंचा था। कुछ और साहित्यिक बन्धु भी थे। हमें सम्बोधित करने हुए संत ने जो एक प्रवचन दिया था, उसीके ये दो अंश हैं। संत ने पटना में, तथा गया में भी, आग्रह किया था कि हम उनके साथ कुछ दिनों तक घूमें और स्वयं देखें कि इस आन्दोलन के तत्व क्या हैं? मैंने कहा था कि जब आप मेरे जिले में आयंगे, आपकी सेवा में उपस्थित होऊंगा।

जब खबर मिली, विनोबाजी ३१ तारीख की भोर में दरभंगा जिले से मुजफ़्फरपुर जिले में प्रवेश कर रहे हैं और संयोग से मेरे थाने, कटरा में ही उनका प्रवेश हो रहा है तो मुझे अपने वादे की याद आई और मैं दौड़ा-दौड़ा बुधकारा पहुचा, उस सौभाग्यशाली गांव में, जिसमें संत के चरण मेरे जिले में पहले-पहल पड़े।

बुधकारा का वह पुण्य प्रभात बहुत दिनों तक याद रहेगा। संत

अपनी यात्रा सदा चार बजकर बीस मिनट पर प्रारम्भ कर देते हैं। हम लोग चार बजे से ही अपने जिले की सीमा पर उनकी प्रतीक्षा में खड़े थे। तरह-तरह के नारे लग रहे थे, तरह-तरह के झंडे उड़ रहे थे। तरह-तरह के लोग थे, नेता थे, कार्यकर्ता थे, मिनिस्टर थे, दारोगा थे, जमींदार थे, किसान थे, पूंजीपति थे, मजदूर थे, कांग्रेसी थे, सोशलिस्ट थे। कृष्णपक्ष की दशमी की हल्की चांदनी चारों ओर बिछी थी। आकाश में थोड़े ही तारे थे, जो अब झुक-झुककर अपने विलीन होने की सूचना दे रहे थे। झीना कुहासा छाया हुआ था। रह-रहकर ठंडी हवा का झोंका आ जाता था। हम बड़ी उत्सुकता से उस ओर देख रहे थे, जिस ओर से संत का आगमन होनेवाला था। दरभंगा जिले में जहां संत का अन्तिम पड़ाव था, वह यहां से कुछ दूर न था। यहीं से हम वहां की रोशनी देख रहे थे। अन्त में वह रोशनी हिलती नज़र आई, फिर हमारी ओर बढ़ती दिखाई दी। लोगों में आनन्द का उल्लास आया। हमने कोशिश की थी, पांत बनी रही, किन्तु संत का आगमन हुआ कि ऐसा ज्वार उठा कि अब पांत की बात कहां सोची जा सकती थी! बीच में संत चल रहे थे, चारों ओर लोग दौड़ रहे थे। थोड़ी दूर यही स्थिति रही। हमने सम्हालने की कोशिश की, किन्तु सब निष्फल। संत रुके, सभी रुके। संत ने कहा, "तुम लोग हमारे पीछे चार-चार पांत में चलो।" हमने लोगों को चेतावनी दी—देखो, हम तुम्हें बढ़ने नहीं देंगे, चार-ही-चार आगे बढ़ो। संत ने झिड़क दिया—"नहीं-नहीं, हुक्म नहीं।" फिर जनता की ओर मुखातिब होकर कहा, "सुनो, हममें से कोई भी तुमपर हुकूमत करनेवाला नहीं। तुम स्वयं चार-चार पांत बनाते चलो और चले चलो।"

जनता पर, लोगों पर, इतना विश्वास! "कोई तुमपर हुकूमत करनेवाला नहीं!"—मैं मन-ही-मन सोच रहा था, संत यह क्या बोल गए? गांधीजी के बारे में लोगों का कहना था—वह अराजकतावादी हैं। राज्य के मानी हैं शासन, हुकूमत। तुमपर कोई हुकूमत करनेवाला नहीं—क्या अराजकवाद का इससे बड़ा सूत्र कुछ और हो सकता है?

आगे-आगे गैस के दो हंडे हैं, दो-तीन लालटेन भी हैं। संत बढ़ रहे

हैं। छोटा कद, दुर्बल शरीर, उसे चादर से लपेटे। उनके पैर जल्द-जल्द उठ रहे हैं। पीछे के लोगों को दौड़ना पड़ रहा है। नारे लग रहे हैं, संत रुकते हैं, कहते हैं, "नारे बन्द करो, बिल्कुल मौन चलो। ब्राह्ममुहूर्त है न, यह तो मनन-चिंतन की बेला है।" सब लोग चुप हैं, अब सिर्फ पैरों की आवाज हो रही है। संत का काफला आगे बढ़ रहा है, बढ़ता जा रहा है।

बीच-बीच में गांव पड़ते हैं। कल संध्या को ही आते समय देख चुका हूं, रास्ते में सभी गांव सजाये गए हैं। प्रत्येक के द्वार पर तोरण-वन्दन-वार! अभी रात ही है, तो भी स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सभी कतार बांध-कर खड़े हैं। रामधुन कर रहे हैं। नारे लगा रहे हैं। उन्हें पहले से समझा दिया गया है, पैर मत छूना, माला मत पहनाना। ललचाई आंखों मे संत के चरणों की ओर देखते हैं और बरबस उनके हाथ के फूल और मालाएं उछल पड़ती हैं। नारियों की श्रद्धा-भक्ति देखते ही बनती है! बच्चों के उत्साह का क्या कहना! जब काफला बढ़ता है, आपस में बातें होने लगती हैं। संत के साथ दो लड़कियां हैं, कुछेक औरतें फुसफुसाती हैं, संत तो बाल-ब्रह्मचारी हैं; किन्तु, दूसरी औरत कहती है, इससे क्या? क्या साधु-संत के बाल-बच्चे नहीं होते! इस सादगी पर किसकी हँसी नहीं छूटे!

धीरे-धीरे अन्धकार दूर होता जा रहा है। हम कितने गांवों को पीछे छोड़ आये! आधी मंजिल तय हो चुकी है। उस अन्धकार में, उस धूल-धक्कड़ में कौन किसको पहचाने? किन्तु, अब एक-दूसरे के चेहरे देख सकते हैं, पहचान सकते हैं। एक भूमिहीन किसान आता है, मुझसे पूछ बैठता है—"मालिक, इन अपने नेता न हतन?" "हां, यह सबके नाते हैं।" किन्तु वह मेरे कथन की बारीकी पर कहां जानेवाला था! पूछ बैठा—"त जमीन कहिया तक मिलतई।" मुझे पिछले चुनाव का दृश्य याद आया। जब हम लोग कहते थे, "हम जमीन का फिर से बंटवारा करेंगे", तो गरीबों की आंखें चमकने लगती थीं। एक मुसहर को एक आदमी समझाने लगे—जमीन तुम्हें कहां से मिलेगी? क्या जमीन रबर है, जो लम्बी की जा सकती है? बीस बीघा, एक गाय। यह सब सपना है, सपना!

वह मुसहर पढ़ा-लिखा नहीं था, किन्तु मूर्ख नहीं था, जैसा कि हम लोग हर ग्रामीण को मान लेते हैं। उसने कहा था—"ओ मालिक बीस बीघा हम कहां मंगइछी ? बीसो धूर हमरा सभके हिस्सा में पड़तई की न ?" चुनाव में हम हार गये। उन्हें लगा था, अब जमीन नहीं मिली। उनकी आशा फिर जग गई है। बीसों धूर सिर्फ एक ही कट्ठा—उतनी जमीन भी उन्हें मिल जाय, जितनी में उनका घर है, तो उनकी दासता की कड़ी कट जाय। हम गणितज्ञ उनकी मनोवृति को क्या जानें ? वही मनोवृत्ति है, जो उन्हें इस संत के पीछे-पीछे दौड़ा रही है। पांच-छः मील की दूरी में ही सफेदपोशों की भीड़ प्रायः छंट चुकी है। बस, अब अधिकांश वे ही लोग संत के साथ रह गए हैं, जिन्हें जमीन चाहिए या जो उन्हें जमीन दिलाने को दृढ़प्रतिज्ञ हैं।

घड़ी कहती है—साढ़े छः बच चुके हैं। अब संत के जलपान का समय आ पहुंचा है। संत रुक जाते हैं। एक पात्र में दही दिया जाता है। एक-एक चमचा मुंह में रखते हैं, गुलगुलाते हैं, कण्ठ के नीचे उतारते हैं। हम उनसे कह रहे हैं, "इस जिले में अधिक जमीन नहीं मिलेगी, क्योंकि जमीन कीमती है। यहां दस बीघे की जो कीमत होगी, हजारीबाग के हजारों बीघे की कीमत उतनी नहीं होगी।" संत मुस्कराते हैं—"जमीन का मोह तो समझ में आता है, पर यह कीमत का क्या मोह ! कीमत माने रुपये न ? तो रुपये की भला कौन-सी कीमत, जिसे न तो खाया जा सके, न पहना जा सके !" मुझे अराजकवादी साहित्य की याद आती है, प्रिंस कोपाटकिन, बाकूनिन। सभी शासन के दुश्मन, सिक्कों के दुश्मन; शासन और सिक्का—एक ही सिक्के के दो पहलू।

सूर्योदय होने के बाद संत चलते समय बातें भी करते जाते हैं। जिन लोगों को कुछ मसले पेश करने होते हैं, इसी समय पेश करते हैं। तरह-तरह के मसले पेश किये जा रहे हैं, दो-चार शब्दों में ही उनका समाधान कर दिया जाता है। शब्दों में सूत्र का-सा चमत्कार ! बड़ी-बड़ी बातों को भी यों थोड़े शब्दों में सुलझा देते हैं कि आश्चर्य होता है।

बीच में एक खादी-केन्द्र है। वहां थोड़ी देर ठहरते हैं। कुछ कत्तिनें चर्खा चला रही हैं। उनमें से कुछके शरीर पर मिल के कपड़े हैं। संत

कहते हैं, "तुम स्वयं खादी नहीं पहनती हो तो दूसरे लोग तुम्हारी खादी क्यों पहनेंगे ? अपने सौदे का आप अपमान करती हो ?" फिर लोगों से कहते हैं, "खादी ही पहनो। कहोगे, खादी महंगी है। तो मैं कहता हूं, जितने पैसे खादी में अधिक लगते हैं, उसे दान समझो। कपड़े-के-कपड़े मिले, दान का पुण्य भी मिला।" बात सीधी, अर्थशास्त्र की उलझन नहीं। इसी भाषा को ग्रामीण समझ सकते हैं। संत भारतीय जनता की नब्ज पहचानते हैं। उसे उसीकी भाषा में समझाते हैं, इसीलिए वह तुरन्त समझ भी जाती है, नहीं तो किसने आशा की थी, भूमि का इतने बड़े पैमाने पर दान मिल सकेगा ?

यह धनौर गांव—धन का गांव है, बड़े लोगों का गांव है, बड़ा गांव है ! यहां बड़े लोग आते ही रहते हैं, मिनिस्टर, नेता, साधू, संत, राजा, बाबू। किन्तु, आज धनौर में जो दृश्य है, जो उत्साह है, वैसा कभी देखा गया था ? भोर से ही इस गांव में धूम मची है। कौन ऐसा दरवाजा है, जिसपर कुछ अतिथि नहीं हों ? बहुत बड़ा है मेरा थाना। यहां से मेरा घर सीधी राह से भी दस मील होगा, किन्तु मेरे गांव के बाद के गांव से भी लोग आये हैं और, सबसे प्रसन्नता की बात यह है कि सभी विचार के लोग आये हैं, बेदौल का जमुना भी आया है और जनाढ़ के झाजी भी। एक के सिर पर लाल टोपी, एक के सिर पर गांधी टोपी। मैं गद्गद् हो उठता हूं—संत से कहा भी कि बाबा, आपका सबसे बड़ा कमाल यह है कि आपने बिछुड़े लोगों को घसीटकर एक साथ खड़ा कर दिया है। आज मैं उस दरवाजे पर टिका हूं, जो दरवाजा पिछले चुनाव में मुझे हराने के लिए अड्डा बना हुआ था। मैं उन लोगों के साथ घूम रहा हूं, हँस रहा हूं, बातें कर रहा हूं, जो मुझे देखकर ही कतराकर निकल जाना चाहते थे, या मैं ही जिन्हें देखकर आंखें मोड़ लेता था।

अपनी उसी डायरी में ये पंक्तियां पा रहा हूं—"आपको गणित से प्रेम नहीं। मैं भी सफलता की माप गणित के अंकों से नहीं करता। इसका उतना महत्व नहीं है कि मुझे कितने लाख एकड़ जमीन मिली। किन्तु इसके द्वारा लोगों को जो एक नया दृष्टिकोण मिल रहा है, उसका महत्व है। जब रामचरण नामक एक अन्धा रातोंरात बैलगाड़ी पर आकर अपनी

कुल जमा पांच एकड़ जमीन दे जाता है, तो मैं समझता हूं, इस आन्दोलन ने लोगों के हृदय को जगाया है।"

यहां भी उन जगे हुए हृदयों की झलक पाता हूं। जानता हूं, इनमें कुछ लोग अपने नेतृत्व के लिए भी दौड़-धूप कर रहे हैं, कुछ अपने महत्व के लिए ढोंग भी कर रहे हैं। किन्तु मैं उन लोगों में नहीं, जो मानव-मन को सदा दूषित ही समझते हैं। कभी-कभी तो यहांतक पाया है, ढोंग से ही कोई काम प्रारम्भ किया गया, किन्तु उस काम की पवित्रता ने ढोंग को जला दिया, वह व्यक्ति थोड़े ही दिनों में कुन्दन बन गया!

झुण्ड-के-झुण्ड लोग आ रहे हैं। चारों ओर नर-मुण्ड-ही-नर-मुण्ड दिखाई पड़ रहे हैं। १९३१ के बाद लोगों में, साधारणजनों में, ऐसा उत्साह नहीं दिखाई पड़ा था। बीच में जो चीजें आईं, वे ऊपर की तरंगें थीं, उनमें ज़ोर था, उफान था; किन्तु यह गहराई में की हलचल है। जो मर्म को आलोड़ित करती है। एक विचित्र बात देख रहा हूं। जो लोग १९२१ में शामिल हुए थे, किन्तु कारणवश घरों में बैठ गए थे, उनसे भी भेंट हो रही है। उनकी आंखें कहती हैं, बत्तीस साल बाद फिर कुछ होने जा रहा है क्या?

सन्ध्या को तीन बजे सन्त के प्रवचन के लिए सभा हो रही है। दूर-दूर से लोग आ रहे हैं, किन्तु, सन्त समय के पाबन्द हैं, निश्चित समय पर ही कार्यारम्भ हो जायगा। प्रार्थना के कुछ पद गाये गए, श्लोक पढ़े गए, फिर रामधुन हुई। "रघुपति राघव राजा राम"—यह गांधीजी की रामधुन की टेक थी। सन्त ने उसमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया है। मेरा मन कहता है, गांधीजी की टेक ही जारी रखी गई होती तो क्या अच्छा होता? किन्तु तुलसीदास की वह पंक्ति याद आ जाती है, जिसमें लक्ष्मण सदा राम-सीता के पद-चिह्नों को बचाकर ही पैर रखते हैं।

सन्त की प्रवचन-मुद्रा भी गांधीजी से कुछ भिन्न है। वह पलथी मारकर बैठ जाते हैं, पहले एक-दो बार खांसकर अपने कण्ठ को साफ कर लेते हैं, फिर बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। जब किसी बात पर जोर देना होता है, पलथी पर दोनों हथेलियों को पटकते हैं। हथेलियों के पटकने का शब्द भी लाउडस्पीकर से सुनाई पड़ता है।

संत की भाषा भी बड़ी विशुद्ध है। हिन्दी का व्याकरण जटिल है, संत की मातृभाषा मराठी है, तो भी पूरे प्रवचन में दो-तीन से अधिक व्याकरण की अशुद्धियां नहीं देखी गई—वे भी बारीक भूलें। ऐसी भूलें तो हिन्दी के विद्वानों से भी हो जाती हैं।

फिर संत की विवेचन-प्रणाली शास्त्रीय होती है। हृदय और मस्तिष्क का अद्भुत संतुलन रहता है वहां।

पाकिस्तान और अमरीका के सैनिक सुलहनामे को लेकर बड़ी खलबली मची है। उसीको आधार बनाकर संत ने प्रारम्भ किया। पाकिस्तान ने क्यों समझौता किया? क्योंकि वह अपनेको कमजोर समझता है। हम क्या करें? क्या हम भी किसी बड़े राष्ट्र से मदद लें? यह तो गुलामी को फिर से निमंत्रण देना होगा। क्या हम सैनिक शक्ति बढ़ाएं? फिर निर्माण का काम बंद कर देना होगा। जो आज भी धनहीन हैं, उन्हें और गरीब बनाना होगा। तो किया क्या जाय? देश को मजबूत बनाओ। देश की मजबूती सेना से नहीं प्रकट होती, जनता की एकता से, ताकत से प्रकट होती है। जिस देश में धनी और गरीब इतना भेद हो, जिस देश में आदमी-आदमी को अछूत समझे, जिस देश में नारियों को कैद में रखा जाय, वह देश मजबूत नहीं हो सकता। इन भेदभावों को दूर करो, इस विषमता को दूर करो, इस अन्याय को दूर करो।

संत के प्रवचन का यह सार था। उन्होंने कहा—इस समझौते को मैं भगवान् का वरदान समझता हूं। हम धीरे-धीरे काम कर रहे थे। उन्होंने हमें चेतावनी दी है—जल्दी करो।

फिर अपने भूदान-यज्ञ का महत्व विस्तार से बयाया। पृथ्वी माता है। जो लोग अपनेको भूमिपति मानते हैं, वे नहीं समझते हैं कि वे कौन-सी गाली अपनेको दे रहे हैं। पृथ्वी के मालिक तो भगवान् हैं—"सबै भूमि गोपाल की।" भगवान की चीज पर भगवान के सभी बेटे-बेटियों का बराबर हक है। आप उसे उसका हक दीजिये, खुशी से दीजिये, इसीमें आपका बड़प्पन है, देश का कल्याण है।

जब मैं प्रवचन-सभा में जा रहा था, कुछ लड़के कम्युनिस्टों का एक

पर्चा बांट रहे थे। उन लोगों ने संत से कुछ प्रश्न पूछे थे। संत ने उन्हें जवाब दिया, "बार-बार एक ही ढंग के प्रश्न ये लोग मुझसे पूछते हैं। शिव के गणों के बारे में कहा जाता है, वे भोले-भाले होते हैं; किन्तु मैं समझता हूं, दो-चार बार समझा देने पर वे भी समझ जाते होंगे। ये लोग तो 'शिव के गण' से भी गए-बीते प्रतीत होते हैं!"

संत लगभग डेढ़ घंटे तक बोलते रहे। मैं श्रोताओं के मुंह की ओर देख रहा था। लगता था, वे एक-एक शब्द पीने की चेष्टा कर रहे हैं। जाड़े का दिन, सूरज डूबने जा रहा था, हवा सिसककर गरीबों के कलेजे को कंपाने की चेष्टा कर रही थी। तो भी वे डटे हुए थे। उनकी आंखें मंच पर बैठी उसी मूर्ति पर अड़ी थीं, जिससे एक ज्योति निकलकर उनके मन-प्राण को जुड़ा रही थी। प्रवचन समाप्त हुआ, सभा विसर्जित हुई, तो भी बहुत-से लोग उस पड़ाव के आसपास चक्कर लगा रहे थे, जैसे वे किसी डोर से बंध गए हों, जो चेष्टा करने पर भी टूट नहीं पाती थी।

संत विनोबा प्रायः संध्या को कार्यकर्त्ताओं की बैठक कराते हैं। उस समय किये गए काम का लेखा-जोखा लेते हैं, कार्यकर्त्ताओं की शंकाओं का निवारण करते हैं और भविष्य के कार्य की रूपरेखा तैयार करते हैं। अभी मैं संत विनोबा पर लिखी गई एक पुस्तक को पढ़ रहा था। उनके एक बाल-साथी ने बताया है, विनोबा को गणित से कैसा अनुराग था। काम का लेखा-जोखा लेते समय मानों उनकी वह गणित-बुद्धि जाग्रत हो जाती है। उन्हें गलत आंकड़े बताकर धोखा नहीं दिया जा सकता। आगे के कार्यक्रम में भी गणित का उनका यह स्नेह जागरित रहता है। किन्तु दर-असल उनकी बुद्धि का, दार्शनिक ऊंचाई का, किसी चीज की तह तक पैठकर देखनेवाली दृष्टि का, चमत्कार तो तब जानने को मिलता है, जब कार्यकर्त्ताओं की शंकाओं के निवारण में वह बोलने लगते हैं।

संध्या को जब बैठक हुई, उन्होंने ताड़ लिया, यहां भूदान का कार्य दलगत दृष्टि से किया जा रहा है। कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी दोनों के कार्यकर्त्ताओं से उन्होंने कहा कि दिल खोलकर बातें करो कि तुम लोग साथ मिलकर क्यों नहीं काम करते हो? मैं तो डाक्टर हूं, यदि मुझसे

बीमारी छिपाओगे तो आराम कैसे होगा। दोनों ने अपनी-अपनी बातें रखीं, दिल खोलकर रखीं, साफ-साफ रखीं। कांग्रेसवालों ने कहा, "आप निश्चित रहें, हम लोग अपने थाने का कोटा पूरा कर देंगे। सोशलिस्टों द्वारा आज ही कितनी ज़मीन मिली है, कुछ ही बीघे तो! सोशलिस्टों ने कहा, "भूदान में हमारे सभी साथियों की एक-सी आस्था भी नहीं है, फिर भी काम कर रहे हैं। हमारे साथ गरीब हैं, उनके पास जमीन ही कितनी है! योंही कांग्रेसवालों ने कहा, "देखिये, ये लोग कितने झंडे ले आये हैं, जैसे इन्हींकी सभा हो।" तो सोशलिस्टों ने कहा, "इन्होंने सारे पोस्टरों पर थाना कांग्रेस-कमेटी का नाम छपवा दिया है, जैसे आप इन्हींके हों।" हां, बातें खुलकर हुई, साफ-साफ हुई।

संत थोड़ी देर चुप रहे, फिर बोले, जैसे दिल खोल दिया हो। उन्होंने बताया, यह देश का दुर्भाग्य है कि कोई शुभ कार्य भी आप लोन मिलकर नहीं कर सकते। जब कभी मिलने की कोई चेष्टा की जाती है, उसमें विघ्न डाला जाता है। उन्होंने नेहरू-जयप्रकाश वार्ता की चर्चा की और बताया किस तरह दोनों दलों के कुछ लोगों ने उसका विरोध किया। फिर दान की छुटाई-बड़ाई की चर्चा करते हुए बोले, "मेरे पास कोई क्षमता नहीं कि किसीको कोई सर्टिफिकेट दूं। दान में दाता का हृदय देखा जाता है, न कि दान की वस्तु का मूल्य। सुदामा के तंदुल का क्या मूल्य था! किन्तु कृष्ण ने उसे जिस प्रेम से खाया, क्या किसी राजा के व्यंजनों को उस प्रेम से खाया होगा। ईसा की कहानी भी ऐसी ही है। एक विधवा ने दिन-भर चर्खा कातकर जो दो पैसे पाए थे, जब उन्हें ईसा को दिया तो ईसा ने कहा था, "इससे बड़ा दान मुझे जीवन भर नहीं मिला।" अपने काम पर अभिमान मत आने दो, अभिमान का नाश होकर रहता है। इसीसे मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूं, मुझसे इतना बड़ा काम मत करवाओ कि मुझमें अभिमान आ जाय, इससे तो छोटी सेवा ही भली।" अन्त में संत का हृदय तिलमिला उठा। उन्होंने कहा, "तुम लोग अपनी डायरी में लिख लो, यदि तुममें यही मनोवृत्ति रही, यदि मिल-जुलकर सेवा करने की वृत्ति नहीं बढ़ी तो इस देश में गुलामी का इतिहास फिर दुहर कर रहेगा!"

जब यह बैठक समाप्त हुई, दोनों दलों के कार्यकर्त्ताओं में एक अद्भुत हृदय-मंथन चल रहा था। दोनों दलों के लोगों से मुझे बातें करने का मौका मिला। लगा, संत के कथन ने उनके हृदय को छू लिया है, वहां से कालिमा कुछ हटी है। काश, यही भावना स्थायी हो पाती।

संत इस भूदान के साथ ही एक निर्मल विचार के बीज बोते चल रहे हैं। वह विचार यह है कि देश के निर्माण के लिए लोग दलों को भूल जायं, सब मिलकर काम करें और अन्त में वह दिन आए कि राजनीति में भी दलों की खींचतान न रह जाय। जो जनसेवी हों, सच्चे हों, निःस्वार्थ हों, वे ही लोग चुने जायं, उन्हींकी सरकार बने। जनतंत्र में दलबंदी की जो भावना जन्मजात है, वह दूर हो जाय। तभी वह सच्चा जनतंत्र होगा। हम लोग इस तरह की बात सुनने के आदी नहीं रहे हैं। हमें बताया गया है कि जनतंत्र के साथ दलबंदी आवश्यक है, इतिहास भी यही बताता है। अतः यह बात हमारे हृदयों में उतरती नहीं है, मस्तिष्क उसे बाहर फेंक देता है। किन्तु आज जनतंत्र जहां जा रहा है, लोगों को एक दिन सोचने को मजबूर होना पड़ेगा। नये विचार, नई परिस्थिति की ही पैदावार होते हैं। विचारक तो उसे भाषा-मात्र देता है।

इधर पैदल चलना एकदम छूट गया था। दिन-भर थकावट के मारे चूर रहा, शाम को हल्का बुखार-सा हो आया। सोचता था, कल पैदल नहीं चल सकूंगा। किन्तु संध्या को, इस बैठक के बाद, जब संत के निकट गया, एक भाई ने पूछ दिया—'कल भी पैदल-यात्रा होगी ? तब मुझसे 'ना' नहीं कहा गया।

दूसरे दिन फिर चार बजे भोर में उठा और संत के काफिले के पीछे आ गया। इच्छा-शक्ति कितनी प्रबल होती है ! शरीर-शक्ति पर वह किस तरह हावी हो जाती है; नहीं तो कल शाम को बुखार का अनुभव कर रहा था, आज इस भोर में दौड़ा चल रहा हूं।

आज अंगरेजी साल की पहली तारीख थी। जब सूर्योदय हो रहा था, संत रुक गए। नये साल का यह नया सूरज। कितना सुन्दर समां ! हम खेतों के बीच होकर गुजर रहे थे। खेतों में सरसों फूल रही थी, गेहूं मटर, खेसारी की हरियाली कैसी मनोहारिणी थी ! दूर पर ईख का

खेत था। उस खेत से ऊपर, पूरबी क्षितिज पर सूरज का लाल गोला। वह धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा था। हल्के सफेद कुहासे को छेदकर उसकी सुनहरी किरणें बिखर रही थीं। ओस के कण चम-चम कर रहे थे। संत पूरब-मुख खड़े हो गए और सूर्य देवता को निर्मिमेष दृष्टि से देखते हुए वैदिक मन्त्रों से स्तुति करने लगे। संत का मुखमण्डल उद्दीप्त हो रहा था। सभी लोग, संत से कुछ अलग, कतार बांधकर खड़े थे। झंडा लहरा रहे थे, भोर की हवा उन्हें दुलरा रही थी, हलरा रही थी। बिल्कुल शांति! सबका ध्यान या तो उस सूरज के लाल गोले पर या संत के चेहरे पर। बेटी कुसुम ने मेरे कानों में फुसफुसाकर कहा, "इस पर कोई कविता लिख डालिये।" मुझे वेद का वह वाक्य याद आ गया—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।" देवता के काव्य को देखो, जो न मरता है, न पुराना होता है। हां, यह सूरज—कितने दिनों से उगता आ रहा है, किन्तु आज भी कितना नवीन, कितना जीवंत दिखाई पड़ रहा है! यह देवता का काव्य है न! इस काव्य के सम्मुख संसार का सारा काव्य फीका है।

संत की स्तुति समाप्त होती है, वह दही का जलपान करते हैं, चल पड़ते हैं। मैं भी चल रहा हूं, किन्तु बार-बार सोचता हूं, नये वर्ष का यह सूरज क्या सचमुच एक नये युग के आगमन की सूचना दे रहा है—उस युग की जब अंधकार नहीं होगा, जब कुहासा फटेगा, जब चारों ओर हरियाली होगी, रंगीनी होगी, सारी दुनिया इन ओसकणों की तरह जग-मग, झल-मिल कर उठेगी।

गांव-गांव में स्वागत हो रहा है। बीच के एक गांव में एक पुस्तकालय का उद्घाटन संत द्वारा किया जा रहा है। नामों की एक सूची पढ़ी जाती जाती है। उस सूची को लेकर कुछ हलचल मचती है। अरे, मानव-मन इतना चंचल है! सांझ की बात भोर में ही भुला दी गई। क्या निराश हुआ जाय! क्या हताश हुआ जाय! नहीं, पुराना मैल धीरे-धीरे धुलेगा। धुल कर रहेगा, नहीं तो इतनी जल्द यह हलचल शांत क्यों हो गई! छोटी बातों को भी एक क्षण में विशाल रूप धरते क्या नहीं देख चुका हूं। यहां तो एक हल्की-सी तरंग उठी और फिर आप ही शांत हो गई। क्या यह

शुभ दिन की सूचना नहीं है !

हम दूसरे पड़ाव पर आ पहुंचे। पड़ाव पर पहुंचकर संत का एक संक्षिप्त प्रवचन होता है। आज भी हुआ। संत ने एक बड़ी मार्मिक बात कही। तरह-तरह के झंडे थे। संत ने कहा, "इन झंडों के विविध रंगों को देखकर उदास मत होओ। झंडे तो अलग-अलग हैं, किन्तु उन्हें एक हवा लहरा रही है। अनेकता में भी एकता का बोध होता है, यदि उसमें समरसता हो। अनेक स्वरों से ही तो संगीत सधता है।"

हां, कमी है चतुर उंगलियों की, जो अलग-अलग बंधे तारों को छेड़कर उनसे संगात की सृष्टि कर दे। हममें अधिकांश लोगों की उंगलियां या तो एक तारे पर सधी हैं या उनमें वह कठोरता है कि इन तारों को तोड़ ही देती हैं। इसलिए आज संसार में झंकार के बदले हाहाकार ही छाया हुआ है।

थका हुआ हूं, लेटने की इच्छा हो रही है। साथी कहते हैं—हम लोगों के लिए कमरे नहीं हैं। मैं कहता हूं—अरे, संत ने कहा है न, 'सबै भूमि गोपाल की।' छोड़ो कमरे को, चलो मैदान के उस छोर पर। जाड़ा है, धूप में भी मजा आयगा। एक साथी ने कम्बल डाल दिया, मैं लेट गया हूं। कानों में समवेत स्वर आ रहा है...

सुरम्य शान्ति के लिए जमीन दो, जमीन दो !
नवीन क्रान्ति के लिए जमीन दो, जमीन दो !

आंखें झप रही हैं। जब खुलती हैं, पाता हूं, झंडे गड़ गए हैं, हंडे चढ़ चुके हैं। किन्तु यह क्या ! बगल में पंढरीजी बैठे हैं, वह कहते हैं—आप लोग यहां अलग क्यों हैं ? मैं अपनी वही टेक दुहरा जाता हूं... 'सबै भूमि गोपाल की।' वह कहते हैं—नहीं, इससे अलगाव का बोध होता है। मेरे साथी उन्हें बता रहे हैं—हमें कमरे नहीं दिये गए। मैं कहता हूं—तो क्या हुआ ! ये झंडे और हंडे वहीं चलें, जहां पंढरीजी बता रहे हैं। झंडे अलग-अलग हैं, किन्तु हवा तो एक है। यदि इन्हें एक जमीन भी मिल जाय तो क्या कहने ! वही होता है। अब सभी झंडे एक ही आंगन में गढ़े हैं, एक ही हवा में लहरा रहे हैं !

काश, हमारा दिल भी इसी तरह एक हो जाता !

: ९ :

कथा के ये जादूगर !

सामरसेट माम से एक बार एक प्रकाशक ने पूछा, "आपकी सम्मति में संसार के दस सर्वश्रेष्ठ उपन्यास और उपन्यासकार कौन हैं ?" माम ने ये दस नाम दिये—

१. वार ऐंड पीस	—लियो टॉल्स्टाय
२. ओल्डमैन गारियो	—ओनेरे बालजाक
३. टाम जोन्स	—हेनरी फीलिंडग
४. प्राइड ऐंड प्रज्युडिस	—जेन आस्टिन
५. रैड ऐंड ब्लैक	—स्तेंवल
६. वूदरिंग हाइट्स	—एमिली ब्रौंटे
७. मदाम बावरी	—गुस्ताफ फ्लाबर्त
८. डेविड कॉपरफील्ड	—चार्ल्स डिकेंस
९. ब्रदर्स करमाज़ोफ	—फियोडोर दास्ताएव्स्की
१०. मोबी डिक	—हरमैन मेलविले

माम का कहना है कि उसकी समझ में संसार का सबसे बड़ा उपन्यासकार बालजाक है, किन्तु सबसे बड़ा उपन्यास है टॉल्स्टाय का 'वार ऐंड पीस'। इसमें पांचसौ पात्र हैं और मुख्य पात्र जीवन से लिये गये हैं। अपने पितामह, पिता, माता और कितने ही परिचितों को टॉल्स्टाय ने इस उपन्यास का पात्र बनाया है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को दो हिस्सों में बांटकर इसके दो प्रधान नायक बनाया। नटाशा इसकी मुख्य नायिका है और माम का कहना है, इससे अधिक मनोरंजक नारी उपन्यास-संसार में कभी गढ़ी नहीं गई।

टॉल्स्टाय के जीवन पर बड़ी कड़ी निगाह डाली गई है—वह शराबी थे, जुआरी थे, अत्यन्त कामुक थे। देखने में कुरूप, किन्तु बड़े साहसी, बलवान—दिनभर पैदल चल सकते थे, बारह घंटे घोड़े की पीठ पर

सवारी कर सकते थे। अपनी कुरूपता पर एक जगह उन्होंने स्वयं लिखा है, "मैं प्रायः ही उदास हो जाता हूं। मेरी समझ में आनन्द उसकी तकदीर में नहीं लिखा है, जिसकी नाक ऐसी चपटी हो, होंठ इतने मोटे हों और आंखें इतनी छोटी और भूरी हों।" वह घमंडी थे—किसीके नमस्कार का भी उत्तर नहीं देते थे, अपनी पुस्तकों की आलोचना को बर्दाश्त नहीं कर पाते थे, बड़े चिड़चिड़े थे, बात-बात पर लड़ने को तैयार रहते थे।

बड़े घर के बेटे थे। नौजवानी में रंगरेलियां कीं। फौज में काम किया—एक तो गिलोय, दूसरे, चढ़ी नीम पर। फिर शादी की। बीवी का बदन सुडौल था, आंखें सुन्दर, बाल मुलायम, बोली मधुर। किन्तु वह भावुक थी, अतः कभी-कभी ठन जाती। उसके अक्षर सुन्दर थे—टॉल्स्टाय की रचनाओं की प्रतिलिपि वही तैयार करती थी। 'वार ऐंड पीस' की सात बार उसने प्रतिलिपि तैयार की थी। टॉल्स्टाय प्रतिदिन आठ-दस घंटे जरूर लिखते थे। हां, उनके अक्षर बहुत खराब थे।

उनका प्रारम्भिक पारिवारिक जीवन बड़ा आनंदपूर्ण रहा। पत्नी बच्चे-पर-बच्चे दिये जाती, उनकी देखभाल करती, अपने पति को लिखने-पढ़ने में सहायता करती। इधर टॉल्स्टाय लिखते-पढ़ते, घुड़सवारी करते, शिकार खेलते और अपनी जमींदारी का काम-धाम संभालते हुए पचासवें वर्ष के आस-पास पहुंचे।

माम उनकी उम्र के उस हिस्से के बारे में लिखता है—

"वह पचासवें वर्ष के निकट पहुंच रहा था। यह अवस्था आदमी के जीवन में बड़ी खतरनाक होती है। जवानी बीत गई होती है। पीछे देखने पर यह लेखा-जोखा सामने आता है कि हमने क्या किया तथा सामने देखने पर बुढ़ापे का स्मरण-मात्र ही कंपा डालता है।"

टॉल्स्टाय के जीवन में इसके बाद ही परिवर्तन होता है। वह एक नये जीवन, नये धर्म के मसीहा बन जाते हैं। संसार के कोने-कोने में उनकी कीर्ति फैल जाती है। 'पैसिव रेजिस्टेंस' के नाम से बुराई से लड़ने का वे एक नया तरीका निकालते हैं। इसका ही भारतीय रूप 'सत्याग्रह' है। गांधीजी ने स्वयं लिखा है कि टॉल्स्टाय की इस अनोखी जीवन-पद्धति ने

उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया ।

इसके बाद ही उनमें और उनके परिवार में एक अजीब द्वंद्व मचता है। टॉल्स्टाय धन को पाप मानकर उसका त्याग करने पर तुले हैं, किन्तु उनकी पत्नी बेचारी क्या करे, घर कैसे चलाये ! चेरत्कोव नामक उनके एक प्रशंसक ने इस आग में घी का काम किया—उसके चलते घरेलू बातें बिगड़ती ही गई। अन्त में, उन्हें घर छोड़कर चल देना पड़ा। उस समय उसकी उम्र बयासी की थी। रात की यात्रा, सर्दी लग गई। घर से स्टेशन, वहां से फिर रेल-यात्रा, फलस्वरूप बुखार से पीड़ित होकर रास्ते में ही एक अपरिचित स्टेशन पर उन्हें उतरना पड़ा और वहीं उनकी मृत्यु हो गई।

टॉल्स्टाय रूसी थे और बालजाक फ्रांसीसी। कहानी-कला में आज भी ये दोनों देश संसार में शीर्षस्थान रखते हैं।

बालजाक में विलक्षण प्रतिभा थी। उपजाऊपन लेखक का विशिष्ट गुण है और उसे यह गुण पूरा-पूरा मिला था। उसकी दृष्टि बड़ी पैनी थी, उसके आविष्कार महान् थे और जितने प्रकार के पात्र उसने पैदा किये, वे तो अपूर्व हैं ही—न भूतो, न भविष्यति। वह मानो प्रकृति की एक अदम्य शक्ति था—एक ऐसी नदी, जो घहराती, कगारों को ढहाती और हर चीज को बहाती चलती है—एक ऐसी आंधी, जो गांवों को झकझोरती और शहरों को चर्रमर्र करती बढ़ती जाती है। स्वभाव में बचपना, हृदय से उदार और दयालु। वकील बाप ने चाहा, बेटा वकील बने; पर वह लेखक बनना चाहता था। पहली पुस्तक पढ़कर लोगों ने कहा, "तुम लिख नहीं सकते, यह पेशा छोड़ो।" किन्तु वह लिखता गया, लिखता गया। चार वर्षों में पचास पुस्तकें लिख डालीं—ऐतिहासिक उपन्यास। इसी समय एक स्त्री से वह प्रेम करने लगा। वह स्त्री उससे पन्द्रह वर्ष बड़ी थी—एक ही साथ पत्नी-प्रेम और मातृ-प्रेम ! उसी स्त्री ने रुपये दिये और प्रकाशन का काम शुरू हुआ। किन्तु बालजाक-जैसे उदार आदमी (उदार क्यों, हद दर्जे का फिजूल-खर्च) से व्यापार क्या चले ! तीन साल में ही रोजगार में दिवाला पिट गया।

अब वह तीस साल का था—दुनिया का काफी अनुभव पाया हुआ।

उसने गम्भीरता से लिखना शुरू किया और लोगों को उसकी प्रतिभा की धाक स्वीकार करनी पड़ी। इसके बाद इक्कीस वर्षों तक, जबतक वह जीवित रहा, लिखता गया। हर साल एक-दो बड़े उपन्यास और एक दर्जन छोटे उपन्यास या कहानियां। कुछ नाटक भी लिखे और कुछ दिनों तक अपना एक अखबार भी निकाला।

वह नोट लेने में बड़ा ही कुशल था। जहां कुछ खास चीज देखी, झट नोट कर ली। अपने उपन्यासों के स्थानों की यात्रा करने में उसने कभी संकोच नहीं किया। वहां की छोटी-छोटी चीजों को भी नोट कर लेता था।

वह ज्यादातर रात में लिखता था। सवेरे खाकर सोने चला जाता। उसका नौकर उसे एक बजे जगा देता। तब वह खूब साफ, उजले वस्त्र पहनकर लिखने बैठता। वह कहा करता था, "जब कपड़े पर धब्बे होते हैं, तब कागज पर भी धब्बे ही उतरते हैं।" काफी की प्यालियों-पर-प्यालियां चल रही हैं और वह चील के पर की कलम से लिखता चला जाता है। सात बजे लिखना बंद कर स्नान करता और सो जाता। नौ बजे प्रकाशक आते, प्रूफ लिये और नई कापी मांगने। तब वह दोपहर तक प्रूफ में लगा रहता। प्रूफ क्या होता—वह नये शब्द, नये वाक्य ही नहीं, नये पैरे और पृष्ठ भी जोड़ने में संकोच न करता। दिन में कुछ अंडे खाकर और पानी पीकर वह फिर काम में लगता और उसे छः बजे समाप्त कर देता।

ज्योंही वह सफल लेखक हुआ, एक बड़े मकान में रहने लगा। उस मकान को उसने खूब सजाया। एक फिटिन खरीदी, उसके लिए घोड़े खरीदे। कोचवान रखा, रसोइया और नौकर रखे। नौकरों को खूब सजा-कर रखता—वर्दी-पट्टे से लैस। अपने नाम के आगे बड़प्पन सूचक 'द' लगाना भी उसने शुरू कर दिया। फर्नीचर, मूर्तियां, तस्वीरें और गहने खरीदने में कभी कोताही नहीं की। खाने-पीने में भी शौकीनी की हद नहीं रखी।

नतीजा यह हुआ कि प्रायः वह कर्ज में रहता और कई बार उसका

सामान भी नीलाम हुआ। किसीसे—औरतों से भी—कर्ज मांगने में उसे संकोच न होता।

प्रेम भी उसने खुलकर किया और कभी-कभी तो 'दूर की कौड़ी हांकने' में भी कमी नहीं की। तभी एक रूसी संभांत महिला उससे प्रेम करने लगी। यह विचित्र बात है कि उसका प्रेम प्रायः पत्र-व्यवहार से ही शुरू होता। इस रूसी महिला से शादी करने के बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। यों कहिये कि मृत्यु-शय्या पर ही शादी हुई। संक्षेप में, बालजाक को जहां साहित्य में सफलता मिली, जीवन में वह असफलता-ही-असफलता का शिकार हुआ।

'ओल्डमैन गारियो' शुरू से आखिर तक मनोरंजक है, फिजूल की बहक से रहित। इसका मुख्य स्थान एक मामूली बोर्डिंग-हाउस है। बूढ़े पिता का प्रेम और अकृतज्ञ बेटी की उपेक्षा का अजीब चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। साथ ही, उस समय की पेरिस के भ्रष्टाचार का भी दिग्दर्शन है।

माम ने शेष आठ उपन्यासकारों के जीवन और उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियों पर भी बड़ा ही मनोरंजक प्रकाश डाला है। इन उपन्यासकारों में क्या विशेषताएं थीं, जो उन्हें ऐसे महान कलाकार बना सकीं, इस प्रश्न का उत्तर माम यों देता है—

"इन सबमें सबसे बड़ी विशेषता थी, इनकी क्रियात्मक प्रवृत्ति। ये इतने बड़े लेखक इसलिए बने कि इनके भीतर ऐसी प्रेरणा थी, जो इन्हें लिखने को मजबूर करती थी। क्रियात्मक प्रवृत्ति के साथ ही इनमें व्यक्तित्व का विकास हुआ था, जिसे लोग 'सनकीपन' या 'झक्कीपन' कहते हैं—वही, जो आदमी को दूसरों की अपेक्षा अलग ढंग से देखने को प्रेरित करता है। यह विशेष तत्त्व बुरा लगे या भला, किन्तु इन्हींके चलते वह ऐसी चीजें आपके सामने रख पाता है, जिसे आप अद्भुत कहते और जिससे चकित और विस्मित होते रहे हैं। इन व्यक्तियों में लिखने के लिए अजीब प्रेरणा थी। ये लिखते थे और लिखते ही जाते थे। लिखना आसान नहीं है और अच्छा लिखना तो और भी मुश्किल है। यों कहा जा सकता है कि कोई आदमी वैसा नहीं लिख पाता, जैसा

कि वह लिखना चाहता है। टॉल्स्टाय और बालजाक लिखते थे, काटते थे, फिर लिखते थे, फिर काटते थे। लिखने की प्रवृत्ति इन लोगों में वैसी ही थी, जैसी भूख या प्यास की प्रवृत्ति।

"इनमें से कोई भी बहुत पढ़ा-लिखा नहीं था। और, लिखने की कला छोड़कर किसी दूसरी कला से इनका वैसा अनुराग भी नहीं था। ये बहुत मेधावी भी नहीं थे, पर इसका मतलब यह नहीं कि ये मूर्ख थे। इनमें विचार के लिए वैसी रुचि नहीं थी, जैसी उदाहरण के लिए। विचार की कमी की पूर्ति इनमें भावना द्वारा हुई थी। इनकी भावना बड़ी प्रखर थी—इनमें कल्पना थी, गहरी सूझ-बूझ थी, परख थी और सबसे बढ़कर इनमें यह योग्यता थी कि जिसे देखा, अनुभव किया या जिसकी कल्पना की, उसे मूर्त्तरूप दे सकें। एक दृष्टि से देखिये तो ये सब-के-सब स्वाभाविक मानव से भिन्न दिखाई पड़ते थे।

"यह सोचना बेवकूफी से भरा है कि कलाकार को सांसारिक सुख के प्रति विरक्ति होती है। ऐसी बात नहीं है। उसके स्वभाव में तरलता होती है, जो अपने लिए जगह चाहती है। आराम-चैन उसे बहुत पसंद है। मौज से रहना उसे बहुत भाता है। इन लेखकों को देखिये—किसी को कपड़ा पसंद, किसीको शिकार, किसीको घर, किसीको सवारी। इनमें से किसी-में संन्यास-वृत्ति नहीं थी। सब मजे में रहना चाहते थे। उन्हें पैसा चाहिए था—जमा करने के लिए नहीं, उड़ाने के लिए, दोनों हाथों से उड़ाने के लिए। वे किसी भी जरिये से रुपया पाना चाहते थे और किसी-के लिए अपनी झोली खाली कर देते थे। बातचीत में पटु तथा संगति में रसिक थे और जो उनके निकट गया, उसे बिना प्रभावित किये नहीं छोड़ा।"

: १० :

दीवाली फिर आगई सजनी !

१९४२ । दीवाली । संध्या ७॥ बजे ।

बिहार का हजारीबाग सेंट्रल जेल ।

जेल के भीतर—

लगभग दो दर्जन राजबंदी दीवाली मना रहे हैं ।

बीच में एक खूबसूरत किशोर हाथ में थाल लिये । थाल में बयालीस दीपक जगमग कर रहे हैं । वह बड़ी शान से थाल को नचाता हुआ गाता है—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी !"

बीस-पच्चीस नौजवान उसे घेरे हुए । कोई थाली पीट रहा, कोई बाल्टी बजा रहा, कोई लोटा टनटना रहा और बीच के उस किशोर के स्वर का अनुगमन करते हुए सभी गा रहे—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी !"

ढाई सौ राजबंदी हैं यहां । प्रदेश के चीफ मिनिस्टर हैं, मिनिस्टर हैं; स्पीकर हैं, चेयरमैन हैं; विधायक हैं, विधाता हैं; नेता हैं; कार्यकर्त्ता हैं । (कांग्रेसी हैं, सोशलिस्ट हैं; फारवर्ड ब्लॉकिस्ट हैं, कम्युनिस्ट हैं) सभी इस अनुपम दीवाली-उत्सव को देख रहे हैं, हंस रहे हैं, तालियां पीट रहे हैं। बहुत-से लोग धीरे-धीरे इस उत्सव में शामिल होते जा रहे हैं ।

रंग जमता जा रहा है, झुंड बढ़ता जा रहा है ।

जेलर देख रहे हैं, नायब जेलर देख रहे हैं । जमादार साहब तो इतने भावावेश में आ जाते हैं कि तालियों का गुच्छा झनझनाते हुए वह भी गाने लगते हैं—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी !"

और उधर, जेल के उस निभृत कोने की दीवार के नीचे, जहां जामुन के लम्बे पेड़ की छाया दीवार पर गिरती है, दो आदमी एक

मेज लाकर रख देते हैं।

उनमें से एक मेज पर चढ़कर दीवार को पकड़ता है, दूसरा उछलकर उसके कंधे पर चढ़ जाता है।

तबतक चार आदमी और वहां जाते हैं। उनमें से एक पहले आदमी की कमर पर लात रखता हुआ दूसरे की कमर को पकड़कर उसके कंधे पर चढ़ जाता है।

वह कंधे पर खड़ा होता है। अब दीवार का ऊपरी छोर उसकी पहुंच में है। इधर-उधर देखता है, फिर कंधे से दीवार पर जाकर अपनेको दीवार के उस पार खिसका देता है।

सर-सर-सर-सर ! छाती में कुछ रगड़, ठुड्डी में कुछ खरोंच। अब वह दीवार के उस पार जमीन पर खड़ा है।

इधर-उधर चौकन्ना देखता है, कोई नहीं। वह लेट जाता है।

उसकी कमर में कपड़े को लिपटाकर बंधा हुआ एक रस्सा है। इस कपड़े के रस्से का एक छोर दीवार के उस पार जेल के अन्दर है।

यह रस्सा अब कमंद का काम कर रहा है।

इस कमंद के सहारे दूसरा आदमी भी दीवार के उस पार गया।

तीसरा गया।

चौथा गया।

पाचवां गया।

छठा गया।

छः कैदी जेल की दीवार पार कर बाहर निकल चुके हैं, सिर्फ छः मिनट में।

हां, सिर्फ छः मिनट में।

आज दो महीने से एक सैल में इसी प्रकार मेज लगाकर, उस पर आदमी-पर-आदमी खड़ा कर, फिर कमंद के सहारे चढ़-उतरकर, वे लोग अभ्यास कर रहे थे।

पांच से सात मिनट के अन्दर काम पूरा कर लिया जा सकता है।

इन्होंने छः मिनट में समाप्त कर दिया।

जिस जेल को अंग्रेजी सरकार ने अभेद्य, अनुल्लंघनीय समझा था,

उसे छः राजबंदियों ने छः मिनट में पार कर दिया।

उधर जेल के भीतर जहां गैस की रोशनी में ज़र्रा-ज़र्रा चमचम कर रहा है—जोरों का शोर हो रहा है—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी !"

इधर जेल के बाहर, जहां इस अमावस्या का सूचीभेद्य अंधकार है, छः राजबंदी भागे जा रहे हैं—काले घुप्प अन्धकार में, भूत की तरह।

(२)

दूसरे दिन ढाई बजे दिन में पटना-सेक्रेटेरियट में आल-क्लियर टेली-फोन घनघना उठता है—

"हलो, हलो !"

"जी, मैं हूं सुपरिन्टेन्डेन्ट, हजारीबाग-जेल।"

"क्या बात है ?"

"अंधेर हो गया, छः राजबन्दी जेल से भाग गए !"

"कब भाग गए ?"

"जी, अभी-अभी पता चला है।"

"दिन में भाग गए ?"

"जी, पता नहीं चल रहा है, कब भागे ! हम पता लगा रहे हैं। शायद भोर में भागे हों।"

"कैसे भागे ?"

"उसका भी पता हम लगा रहे हैं।"

"वे लोग कौन थे ?"

"उनमें एक थे जयप्रकाश नारायण।"

"जयप्रकाश नारायण ! हलो, आप कह रहे हैं जयप्रकाश नारायण ! सोशलिस्ट नेता !"

"जी, वही।"

और उसके बाद बिहार के सारे सूबे में खलबली थी। हर जेल में सूचना दी गई, होशियार रहो, कोई व्यापक षड्‌यंत्र है, हर जिले में खबर की गई, होशियार रहो, न-जाने क्या हो !

रांची में फौजी पड़ाव है। जापानी आक्रमण से बचने के लिए

हिन्दुस्तान की सेकेण्ड लाइन ग्राव डिफेंस। हजारीबाग से सिर्फ चालीस मील पर है वह पड़ाव। वहां खबर की जाती है, इन कैदियों को पकड़ने में फौज की मदद दो!

ऊपर हवाई जहाज मंडरा रहे हैं—जंगल, पहाड़, मैदान—सब जगह गृद्धदृष्टि से देखा जा रहा है—भगोड़े कैदी कहां हैं!

हजारीबाग से बाहरी दुनिया में जानेवाली सभी सड़कों ग्रौर राहों पर पहरे पड़ रहे हैं।

बिहार-गजट का विशेष संस्करण निकलता है—

हजारीबाग सेंट्रल जेल से छः कैदी भाग गये हैं। जो उन्हें पकड़ा देगा, उसे इक्कीस हजार रुपये इनाम में मिलेंगे। हर कैदी पर इनाम की रकम यों है—

जयप्रकाश नारायण	...	५०००)
योगेन्द्र शुक्ल	...	५०००)
रामनन्दन मिश्र	...	५०००)
सूरजनारायणसिंह	...	२०००)
गुलाली सोनार	...	२०००)
शालिग्रामसिंह	...	२०००)

फौज, पुलिस, जेल—तीनों विभागों के लोग इन कैदियों को पकड़ने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं। कुछ ऐसे सज्जन भी, जो कुछ रुपयों पर देश को बेच सकते हैं, इनका साथ दे रहे हैं।

सड़कों पर, राहों पर, पगडंडियों पर चलनेवाले एक-एक ग्रादमी को गौर से देखा जाता है।

किन्तु, उनके सारे प्रयत्न व्यर्थ जा रहे हैं, व्यर्थ जा रहे हैं!

(३)

जब जेल की दीवार पार करके वे छः बंदी चले तो जल्दी में जान न सके कि किधर जा रहे हैं!

यह पहाड़ी जिला—चारों ग्रोर जंगल-जंगल—कहीं-कहीं बस्तियां।

तय था, जेल से निकलकर वे एक निश्चित पथ से बढ़ेंगे ग्रौर यहां से सात मील दूर के एक गांव में जाकर दम लेंगे। वहां से सवारी का प्रबन्ध

करके वे बाहर जायंगे—कहां !

निश्चय किया गया था कलकत्ता पहुंचने का।

किन्तु यहां तो रास्ता ही भूल गया।

जंगल-जंगल वे बढ़ रहे हैं और जब पीछे मुड़कर देखते हैं, एक पहाड़ी पर बने उस जेल के सेण्ट्रल टावर की रोशनी देखते हैं।

यह रोशनी उन्हें कितना भयभीत करती है !

कि अचानक गुर्राहट।

अरे, क्या यह शेर है ?

हां, शेर ही तो।

बिहार के शेर श्री योगेन्द्र शुक्ल आगे बढ़ते हैं, उसी भयानकता से ललकारते हैं। लगता है, शेर ने शेर की कद्र की। उसने रास्ता छोड़ दिया। वे आगे बढ़े।

उस दिन जब दुनिया दीवाली मना रही थी और जेल में बारह बजे तक 'दीवाली फिर आ गई, सजनी' की धूम मची थी, ये छः राजबंदी घन-घोर जंगल में, काले घुप्प अंधेरे में, आगे बढ़ रहे थे।

इनके पैर नंगे थे, कपड़े भीग गए थे।

जूतों और कपड़ों की गठरी जेल में ही रह गई थी। कमंद के सहारे उसे फेंकने की कोशिश की गई, किन्तु बेकार। फिर ज्योंही बाहर निकले, सब-के-सब एक नाले में गिर पड़े। पैरों में कांटे चुभ रहे थे, सर्दी के मारे दांत किट-किट कर रहे थे। तो भी वे बढ़ते जा रहे थे।

रात-भर चलते रहे।

कहां जा रहे हैं, कुछ पता नहीं। ध्रुव-नक्षत्र को देखकर अपने जानते उत्तर दिशा की ओर बढ़ रहे हैं।

अन्ततः जब आकाश में लाली फैली, उषाकालीन मन्द हवा चलने लगी तो इनकी आंखों पर नींद मंडरा उठी। एक पेड़ के नीचे सो गए।

जब चारों ओर सूरज की रोशनी जगमग कर रही थी, तब उनकी नींद टूटी। अरे, पैरों की क्या हालत है ! वे रक्त से सने हैं। चेहरे और बदन भी देखने लायक। कितने खरोंच, कितने जख्म !

तो भी चलना है ! चलना है ! चलना ही है !

पैर घसीट रहे हैं, लेकिन अब पेट में भूख की कुलबुलाहट है। यहां खाने को क्या मिले ! सामने एक झरबेरी का पेड़ है, उसके छोटे-छोटे खट्टे-मीठे फल तोड़कर खा रहे हैं। आगे एक करोंदे का पेड़ मिला, उसके फल भी चखे गए। फिर एक आंवले का पेड़ ! लेकिन इनसे क्या भूख मिट सकती है ! शाम तक पेट में जैसे आग दहकने लगती है।

पास में सिर्फ सौ रुपये का एक नोट है और फुटकर सिर्फ चार आने।

सौ रुपये का नोट कहां भंजे ! उनमें से एक आदमी जंगल से निकलकर सड़क के किनारे के एक भड़भूजे की दुकान पर आता है और चार आने का चीउड़ा खरीदकर ले आता है।

चौबीस घण्टे के बाद चार आने के छः छटांक अन्न पर छः आदमी टूटते हैं। "थोड़ा बचा करके भी रखो भाई, न-जाने फिर कब अन्न के दर्शन हों !" दो-दो मुट्ठी मुंह में रखते हैं, एक झरने से खूब पानी पी लेते हैं और एक पेड़ के निकट सो जाते हैं।

फिर भोर—फिर यात्रा !

किन्तु यह क्या ! जयप्रकाश की साइटिका उभड़ आया है ! सारे पैर में तनाव है, दर्द है। वह चल नहीं पाते। पैर तो घायल हैं ही। दो साथी उन्हें सहारा देकर आगे बढ़ा रहे हैं। कभी-कभी उन्हें लकड़ी पर टांग करके भी आगे बढ़ते हैं।

दिन-भर चलते रहे। सन्ध्या के समय एक गांव निकट आया, एक परिचित गांव। इसी गांव में तो दुबेजी, एक देशभक्त, हाल ही में जेल से छूटकर आये हैं।

दुबेजी ने भोजन का प्रबन्ध किया, बैलगाड़ी का प्रबन्ध किया। रात में तीन आदमी बैलगाड़ी के ऊपर लेटे हुए हैं, तीन आदमी आगे-पीछे चल रहे हैं। बैलगाड़ी में लकड़ियां लाद दी गई हैं। इन तीनों के हाथ में कुल्हाड़ी और डण्डे हैं। लोगों को लगता है, किसान लोग जंगल से लकड़ी काटकर घर लौट रहे हैं।

हजारीबाग जिला पार किया गया। गौतम बुद्ध की पावन भूमि गया जिले में पहुंच गए। वहां से शेरशाह के शाहाबाद जिले में आये।

एक सप्ताह तक इसी तरह पैदल और बैलगाड़ी पर चलते रहे। फिर एक छोटे-से स्टेशन पर रेलगाड़ी पकड़कर काशी पहुंचे।

पहुंचना था कलकत्ता—पहुंच गये काशी !

गुपचुप एक प्रोफेसर मित्र के घर गये। मित्र थे नहीं; उनके नौकर ने कहा, "बाबू, आपको क्या हो गया है ? क्या बीमार थे ?"

और, बाबू भागे जा रहे हैं—कहीं इस नौकर ने इनाम के लोभ में गिरफ्तार करा दिया तो !

(४)

१९४२ की नवीं अगस्त भारतीय इतिहास में अमिट हो चुकी है तो उसकी १९४२ की दीवाली भी कभी नहीं भूली जा सकेगी।

भारत के राजनैतिक इतिहास के लिए यह एक अनोखी घटना थी।

वारंट कटा, कहीं गायब हो गये। जेल में भेजे जा रहे थे, बीच में चम्पत हो गये। जमानत पर बाहर आये, नौ-दो ग्यारह हो गये—ऐसी घटना तो प्रायः घटती रही हैं; किन्तु जेल की दीवार को फांदकर पांच साथियों को लेकर एक साथ निकल भागना और वह भी जयप्रकाश-जैसे आदमी के लिए—एक विचित्र बात थी।

विचित्र बात यह भी थी कि शाम को ये लोग भागे और दूसरे दिन दोपहर तक जेलवालों को पता तक नहीं चल सका।

जो जेल में रह गये थे, उन साथियों ने ऐसा प्रबन्ध किया कि जहां हर दो घण्टे पर कैदियों की गिनती होती है, वहां बीस घण्टों तक इनके भागने का पता नहीं चल सका।

जब दूसरे दिन बारह बजे उनसे परामर्श करने जेल का सुपरिंटेंडेंट आया और उन्हें नहीं पाया तो उसे विश्वास भी नहीं हो रहा था कि जयप्रकाश भाग गये होंगे।

जब जेल की पहली घण्टी बजी और घोषित किया गया कि जयप्रकाश जेल से भाग गये हैं तो वहां के सभी राजबन्दियों को लगा, सरकार पागल हो गई है क्या !

जब पुलिस-सुपरिंटेंडेंट जेल के भीतर जांच-पड़ताल के लिए आया तो उसने भी कहा, "यह हो नहीं सकता कि जयप्रकाशजी भाग गए हों। आप

लोग दिल्लगी कर रहे हैं ! ”

जयप्रकाश—इतने शान्त, इतने शिष्ट ! देश में जिनकी इतनी प्रतिष्ठा ! गांधीजी ने जिन्हें समाजवाद का आचार्य कहा था ! वह भाग जायं ! राम, राम !

लेकिन, जो लोग ऐसा सोच रहे थे, और प्रायः सभी लोग ऐसा ही सोचते थे, वे नहीं जानते थे कि जयप्रकाश के हृदय में इस समय कौनसी आग धू-धू कर रही थी।

जयप्रकाश ने देखा था, किस तरह प्रथम महायुद्ध (१६१४–१८) के समय हम लोग देखते ही रह गए और कितने देश उसमे फायदा उठाकर स्वतंत्र हो गए।

यदि दूसरे महायुद्ध में भी हम चूक गए तो हमारी गुलामी स्थायी-सी बनकर रह जायगी।

अतः ज्योंही दूसरा महायुद्ध छिड़ा, उन्होंने आवाज लगाई—हमें आजादी की लड़ाई छेड़ देनी चाहिए।

रामगढ़-कांग्रेस के पहले ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। जेल से भी वह गुपचुप नेताओं के पास पत्र और अखबारों में लेख भेजकर इस बात पर बार-बार जोर देते रहे।

जब पहली सजा भुगत कर वह छूटे, देशभर में घूम-घूमकर इसके लिए संगठन करने लगे। किन्तु बम्बई में उन्हें फिर गिरफ्तार किया गया।

बम्बई से देवली-कैम्प। देवली के वे खत—जिन्होंने एक बार भारत को हिला दिया था और, अन्ततः तीन सप्ताह के अनशन के बाद देवली-कैम्प को तुड़वाकर फिर हजारीबाग लौटे।

अगस्त-आन्दोलन के प्रारम्भ से ही वह इस चेष्टा में थे कि कैसे जेल से भागा जाय।

लेकिन एक-पर-एक विघ्न आते रहे। अन्त में यह दीवाली !

और उसके बाद—

उन्होंने सारे भारत का दौरा किया—दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता और नेपाल।

नेपाल में गिरफ्तार हुए और आजाद दस्ते द्वारा उनका उद्धार किया गया। वह रोमांचकारी घटना तो अलग एक लेख की चीज है।

अब दूसरी दीवाली निकट पहुंच रही थी। जयप्रकाश का स्वास्थ्य खराब हो चुका था। सोचा गया, अगली दीवाली काश्मीर में मनाई जाय। वहां से लौटकर एक बार फिर होली जलाने की चेष्टा की जायगी ! देश को आजाद किए बिना चैन कहां !

दिल्ली-स्टेशन पर, जब गाड़ी रवाना होने को है, एक साहब आकर एक फर्स्टक्लास डब्बे में चढ़ जाते हैं। डब्बा रिजर्व है। उसपर कार्ड लगा है—एस० पी० मेहता।

भोर। अमृतसर। साहब चाय की चुस्की ले रहे हैं कि तीन सज्जन आ धमकते हैं—एक अंग्रेज, दो सिक्ख। तीनों खड़े हैं, इन्हें घूर रहे हैं।

"बैठिये ! तशरीफ रखिये !"

"आप कहां जा रहे हैं ?"

"रावलपिंडी।"

"आपका साथी कहां है ?"

"साथी ? मैं तो अकेला हूं।"

"तो आप सिर निकालकर किसे देख रहे थे ?"

"आपको धोखा हो रहा है शायद।"

"यह नेपाल नहीं है !"

"नेपाल ?"

"जीहां, आप बुरी तरह फंस गये हैं !"

"आप क्या कह रहे हैं ? मैं तो बम्बई का एक व्यापारी हूं। मैं कभी नेपाल गया भी नहीं।"

"आप जयप्रकाशनारायण हैं।"

"जी नहीं, में हूं एस० पी० मेहता।"

"खैर, तलाशी दीजिये। आप जान गए होंगे कि हम पुलिस-अफसर हैं। आज आप बच गए, यदि फिर सिर निकालते तो हम आपको शूट कर देते।"

तलाशी। गिरफ्तार। लाहौर फोर्ट। वह रौरव यातना। हाबियस कॉरपस। आगरा-जेल । ब्रिटिश डेलिगेशन। गांधीजी की शर्त—पहले जयप्रकाश को छोड़ो। रिहाई।

... ...

चौदह वर्षों के बाद भी जब-जब दीवाली की याद आती है, हजारी-बाग जेल में उस दिन राजबंदी द्वारा गाये गए वे समवेत स्वर कानों में गूंजने लगते हैं—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी!"

और जब-जब जयप्रकाशजी को—उनके शान्त, सौम्य, स्निग्ध चेहरे को देखता हूं, १९४३ के वे शब्द तरंगित हो उठते हैं--"मैं हूं एस० पी० मेहता!"

: ११ :

रोटी और शराब

हाग्नात्सियो सिलोने यूरोप की तरुण पीढ़ी के उन लेखकों में हैं, जिनकी कला की धूम अब संसारभर में छा चुकी है। इटली के इस सपूत की लेखनी ने इटली के जन-जीवन और संघर्षों का ऐसा चित्र उपस्थित किया है कि उसे देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है।

इस बार की यूरोप-यात्रा में सिलोने से मिलने का सुअवसर पेरिस में प्राप्त हुआ था। हम लोग एक ही सांस्कृतिक सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए पेरिस पहुंचे थे। मैं जिस होटल में ठहराया गया था, पता चला, उसीमें सिलोने भी ठहराये गए हैं, किन्तु वहां के अस्त-व्यस्त जीवन में, होटल में उनसे मिलना न हो सका। अचानक एक दिन सम्मेलन द्वारा आयोजित चित्र-प्रदर्शनी में उनसे साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मंझोला कद, भरा-पूरा शरीर, चौड़ा ललाट, पतली नाक, चमकती आंखें और गेहुंआ चेहरा। बालों में अस्त-व्यस्तता, सफाचट दाढ़ी पर सघन मूंछें। पोशाक में ढीला-ढालापन और, मैं कहूं, चाल में भी कुछ खोया-खोयापन का भाव। उनका नाम सुनकर मैंने उनके निकट जाकर भारतीय ढंग से नमस्कार किया, उन्होंने भी दोनों हाथ जोड़ दिये। लेकिन दिक्कत यह कि वह अंग्रेजी नहीं जानते और मुझे इटालियन भाषा का ज्ञान नहीं। किन्तु तुरंत उनकी धर्म-पत्नी आ गईं और उन्हीं-के माध्यम से कुछ बातें हुईं और तय पाया, हम लोग होटल में एक दिन चाय पर मिलेंगे। होटल में जब हम मिले, उनकी पत्नी के माध्यम से ही काफी बातें हुईं। भारतीय साहित्य की गतिविधि समझने के लिए उनमें बड़ी उत्सुकता देखी। मेरा अपना अनुभव है, इटली और भारत के अंतरंग और बहिरंग में बड़ी एकरूपता है और दोनों के ही कृषि-

में भी समानता है।

सिलोने का जीवन बहुत रोमांचकारी रहा है। वह एक साधारण किसान के लड़के हैं, उनकी माता अपने हाथों कपड़े बुना करती थीं। बचपन से ही अपने देश की दयनीय स्थिति की ओर उनका ध्यान गया और अठारह साल के होते ही उन्होंने एक पत्र निकालकर अपने देश की जनता में, खासकर युवकों में, नई क्रान्तिकारी भावना भरना शुरू कर दिया। जब इटली में मुसोलिनी का उदय हुआ, सिलोने ने फासिज्म के खिलाफ जबर्दस्त आवाज उठाई, उनके अखबार को तीन बार जब्त किया गया। जब उन्हें मालूम हुआ कि फासिस्टों के गुर्गे उन्हें पकड़ने की ताक में हैं, तो वह अपने देश से भाग निकले और पांच वर्ष तक निर्वासित जीवन का घोर कष्ट उठाते रहे, किन्तु देश की दुर्गति ने उन्हें बाहर भी नही रहने दिया। जब देश का जन-जीवन नष्ट किया जा रहा हो, जब जनता को गुमराह बनाकर उसे सर्वनाश की ओर घसीटा जा रहा हो, तब सच्चे देश-भक्त का काम सुरक्षा ढूंढ़ना नहीं, बल्कि जान पर खेलकर जनता को सच्ची राह बताना और उसे संघर्ष की ओर ले जाना होता है। अतः सिलोने गुप्त वेश में अपने देश लौटे और लगातार पांच वर्षो तक गुप्त वेश में ही काम करते रहे। किन्तु स्थिति दिन-दिन गंभीर होती गई, उनका इटली में रहना बिल्कुल ही असंभव हो गया। इस बार १९३० ई० में जब उन्होंने देश छोड़ा तो चौदह वर्ष तक बाहर-ही-बाहर रहे। स्विट्जरलैण्ड के जूरिख नामक शहर में ही इस अवधि में वह मुख्यतः रहे, किन्तु यहां भी बैठे नहीं रहे। उनकी लेखनी लगातार चलती रही। उनका साहित्य गुप्त रूप से इटली पहुंचता रहा। यही नहीं, यूरोप का ध्यान भी, साहित्य के माध्यम से, वह इटली की ओर आकृष्ट करते रहे।

पिछले महायुद्ध में जब मित्र-राष्ट्रों की मुक्ति-सेना यूरोप में घुसी, सुअवसर जानकर सिलोने ने अपने देश में जाने का निश्चय किया। पादरी का वेश धारण कर उन्होंने नाजी सेना को चकमा दिया और कितनी बार जान पर खेलकर अन्ततः अपने देश में पहुंचकर उन्होंने

इटली के आजाद दस्ते के संगठन में योगदान दिया और उन्हें यह देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ कि फासिस्टों के खूनी पंजे से उनके देश को सदा के लिए मुक्ति मिली। अब अपनी लेखनी द्वारा वह इटली के प्रजातन्त्र को ऊंचे स्तर पर ले जाने में संलग्न हैं।

उनकी पुस्तकों में 'फोंतामारा', 'ब्रेड ऐंड वाइन', 'सीड बिनीथ द स्नो', 'ऐंड ही हिड हिमसेल्फ़' बहुत ही प्रसिद्ध हुई हैं। सिलोने मुख्यतः उपन्यास लिखते हैं, किन्तु उनकी अन्तिम पुस्तक नाटक है। आलोचकों ने लिखा है, "उनके उपन्यासों में गोगोल, दास्तावेस्की और मिलविले ऐसे महान् लेखकों की उपन्यास-कला की झलक मिलती है।" यों तो 'फोंतामारा' को बहुत प्रसिद्धि मिली, किन्तु उसमें प्रचार की पुट कुछ अधिक है। उनकी प्रतिभा और लेखन-कला का उत्कृष्टतम उदाहरण 'ब्रेड ऐंड वाइन' ('रोटी और शराब') है, अधिकांश आलोचकों का ऐसा मत है।

'रोटी और शराब' से हम, अपने संस्कार के अनुसार, कोई अन्यथा अर्थ न निकालें। इटली में यह एक खास अर्थ रखता है—वहां यह किसान-जीवन का प्रतीक माना जाता है। जब किसान के घर किसी बच्चे का जन्म होता है, पड़ोसियों में रोटी और शराब बांटी जाती है और जब उसके घर किसीकी मृत्यु होती है, तब भी रोटी और शराब से ही उसका श्राद्ध सम्पन्न होता है। नया अन्न नौ महीने में तैयार होता है, अंगूरी भी नौ महीने के बाद ही चखी जाती है और बच्चे का जन्म भी नौ महीने में होता है। यों रोटी और शराब का नई मानवता के प्रतीक-रूप मे भी लेखक ने व्यवहार किया है।

उपन्यास का कथानक बहुत छोटा है। एक बूढ़ा पादरी, जो पहले शिक्षक का काम करता था, संध्या-समय अपने कुछ शिष्यों की प्रतीक्षा कर रहा है, क्योंकि आज उसका जन्मदिन है और इस अवसर पर सदा उसके कुछ प्यारे शिष्य आते रहे हैं। जो शिष्य आते हैं, उनमें एक डाक्टर है, एक पादरी। वे गुरुदेव की सेवा में कुछ उपहार भी अर्पित करते हैं। पुराने जमाने की चर्चा आती है। अपने पुराने शिष्यों के बारे में पूछताछ करता हुआ बूढ़ा पादरी पूछ बैठता है—वह लड़का अब कहां

है, जिसका नाम स्पिना था ? स्पिना पर उसकी ममता है; क्योंकि वह कुछ अजीब लड़का था—बहुत ही गंभीर, कम बोलता, दुबला-पतला, किन्तु दृढ़निश्चयी, धुन का पक्का। पता चलता है, उसने क्रान्तिकारी राजनीति को अपनाया है। गिरफ्तारी से बचने के लिए वह फरार हो गया है; कोई-कोई कहते हैं, वह विदेश भाग गया है। बूढ़े पादरी का शिष्य यह कहने से भी नहीं चूकता कि वह तो नास्तिक हो गया है। उसके नास्तिक हो जाने की बात सुनकर बूढ़ा पादरी घबराता नहीं, घृणा नहीं प्रकट करता, बल्कि बोल उठता है, "जो न्याय और सत्य के लिए जीता है, वह नास्तिक नहीं है, वह भगवान में है और भगवान उसमें है।" यही नहीं, उस शिष्य के फरार जीवन पर वह हार्दिक दुःख प्रकट करता है—"लोमड़ी के लिए मांद है और चिड़ियों के लिए घोंसला, किन्तु आदम औलाद के लिए ऐसी जगह नहीं, जहां वह सर घुसा सके। हाय, जब वह अपने सपनों के अनुसार जीना चाहता है तो धर्म के ठेकेदार कहलानेवाले शासक उसे जंगली जानवरों की तरह खदेड़े फिरते हैं!"

यही स्पिना इस उपन्यास का नायक है। विदेश में भी उसे चैन नहीं, वह वहां से छिपकर ही अपने देश लौटता है, दिन-रात काम करता है। न खाने का ठिकाना, न पीने का, न सोने का, न आराम करने का। वह बीमार पड़ता है, उसे क्षयरोग हो जाता है। तब वह अपने पुराने दोस्त उसी डाक्टर को बुलाता है, जो उस दिन बूढ़े शिक्षक पादरी के पास पहुंचा था। डाक्टर उसे पहचान नहीं पाता, क्योंकि तेजाब डालकर उसने अपने चेहरे को ऐसा बना लिया है कि वह बहुत बूढ़ा मालूम हो। किन्तु वह डाक्टर पर अपना भेद प्रकट कर देता है। उसी डाक्टर की सलाह से वह वहां से भागकर दूर के एक पहाड़ी गांव में जाता है, अपनेको और भी छिपाने के लिए वह पादरी का वेश धारण कर लेता है।

इस गांव में आने पर उसे अपने देश के लोगों के यथार्थ जीवन का परिचय होता है, वे कितने दकियानूस हैं, मूढ़ हैं, धर्मान्ध हैं। इसी सिलसिले में उसका दो लड़कियों से परिचय होता है, एक कामुकता की

मूर्ति है, दूसरी धार्मिकता की जीवित प्रतिमा। दूसरी लड़की की ओर वह कुछ आकृष्ट होता है, किन्तु देखता है, यह लड़की अपने में ही, अपनी पवित्रता में ही लिपटी हुई है। वह उसकी ओर से भी हटता है। तबतक उसकी तबीयत कुछ अच्छी हो चली है और उधर अबीसीनिया की लड़ाई शुरू होती है। वह सोचता है, यही क्रांति का अवसर है। वह उस गांव को छोड़कर रोम शहर में आता है, जहां उसकी पार्टी का सदर मुकाम है। वहां वह पाता है, क्रान्तिकारी विचारवालों पर आफत है, वे सब-के-सब गिरफ्तार हो चले हैं। जो एकाध बचे हैं, वे सब लुकछिपकर क्रान्ति का काम चला रहे हैं। वहां उसकी एक और लड़की से भेंट होती है, जो अपने क्रान्तिकारी प्रेमी को बचाने के लिए अपने ऊपर बलात्कार होने देती है; किन्तु उसका प्रेमी इसके बदले उसके मुंह पर थूककर चल देता है।

वह छटपटाता हुआ फिर गांवों की ओर लौटता है। गांव के लोग फासिस्टों के प्रचार-जाल में फंस गये हैं। वे युद्ध के नशे में पागल हैं—किसीकी युद्ध-विरोधी बात सुनने को वे तैयार नहीं, उल्टे उन लोगों को ही देश का दुश्मन समझते हैं। वह अपने गुरु बूढ़े पादरी से मिलता है। बूढ़े की दृष्टि पैनी है, यह अपने शिष्य की ही तरह इस युद्ध को सत्यानाशी समझता है। वह खुले-आम युद्ध के विरोध में, शान्ति और न्याय के पक्ष में, प्रवचन करता है। किन्तु इसका फल उसे भी भुगतना होता है—उसे धोखे से जहर पिलाकर मार दिया जाता है। तब भी लोगों की आंखें नहीं खुलतीं। इतने पर भी स्पिना हिम्मत नहीं हारता। वह फिर रोम जाता है। वहां उसकी उस कामुक लड़की से भेंट होती है। डूबते को तिनके का सहारा; उसे ही लेकर वह फिर देहात लौटता है। किन्तु अबतक उसे फंसाने के लिए जाल बिछाया जा चुका है। वह समझ लेता है, उसका अंत निकट है। वह उस गांव में लौटता है, जहां वह बीमार की हालत में रहता था, क्योंकि वहां कुछ आवश्यक कागज-पत्र हैं। उन कागज-पत्रों में एक नोटबुक है, जिसमें उस धार्मिक लड़की को लक्ष्य करके उसने कुछ लिख रखा है। वह नोटबुक उसके पास भेजकर वह पहाड़ी की ओर निकल पड़ता है, जहां बरफ-ही-बरफ है;

क्योंकि अन्य सारे रास्ते उसके लिए बन्द है, सब जगह उसे पकड़ने के लिए खुफिया तैनात कर दिये गए हैं।

वह लड़की जब नोटबुक देखती है, चौंक उठती है। ज़रा उसकी कुछ पंक्तियां तो देखिये—

—हमारा प्रेम, हमारा बलिदान, हमारा त्याग सब झूठे हैं, व्यर्थ हैं, जबतक कि वे भावनामात्र हैं, अमानवीय संकेतमात्र। जब हम उनका उपयोग अपने मानव-बंधुओं के लिए करते है, तभी वे वास्तविक बनते हैं, सफल होते हैं। वास्तविक जीवन में ही नैतिकता जीवित रहती और विकसित होती है।

—जब हम अपनी नैतिक भावना को अपने चारों ओर फैली हुई अव्यवस्था की तरफ मोड़ेंगे तब हम क्रियाहीन नहीं रह सकेंगे और न हम अपनेको स्वर्ग की कल्पना में बहला सकेंगे। तब हमें कल्पना के शैतान से ही लड़ना न रह जायगा, बल्कि हम उन शक्तियों से लड़ना शुरू करेंगे, जो आदमी को आदमी के खिलाफ खड़ा करती है।

—वह कैसा दिन होगा, जब तुम्हारी तरह के नैतिक और आध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत लोग अपनेको धार्मिक अनुष्ठानों में न फंसाकर सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने के कार्य में उत्सर्ग कर देंगे। वही क्रांति का दिन होगा, उसी दिन एक तरह के नये संत, एक तरह के नये शहीद, एक तरह के नये आदमी, पृथ्वी पर अवतरित होंगे।

—आज के समाज में इसके सिवा अपनी आत्मा की रक्षा के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। उसीकी आत्मा पतन से बच सकती है, जिसने व्यक्तिगत अहंकार, पारिवारिक अहंकार और वंशगत अहंकार पर विजय प्राप्त कर ली हो, जिसने अपने चारों ओर कल्पना का घेरा न बना लिया हो, जिसने अपनेको हवाई किले में बंद नहीं कर लिया हो। आत्मा उसीकी मुक्त है, जिसने अपनेको वर्तमान सामाजिक अवस्था से घबराकर भाग खड़े होने की भावना को मार भगाया हो। नैतिक जीवन का अर्थ ही है उत्सर्ग और बलिदान का जीवन। आज के समाज में क्रांतिकारी जीवन ही यथार्थ में नैतिक जीवन है।

—क्रिस्टिना, डरने की बात नहीं; अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए

इस तरह परेशान होने की जरूरत नहीं। नैतिक जीवन और सुरक्षित जीवन साथ-साथ नहीं चला करते। अपनी सुरक्षा के लिए संघर्ष करना होगा, संकट झेलना होगा।

उस लड़की का नाम क्रिस्टिना है। इस नोटबुक को पढ़कर उसे पता चल जाता है, वह साधु नहीं, क्रांतिकारी है। इस संध्या के समय वह बर्फ-भरी पहाड़ी की ओर गया है, रात में उसकी क्या दशा होगी! वह चल पड़ती है, उस पहाड़ी की ओर--कुछ गरम कपड़े लेकर, रोटी लेकर और एक बोतल में इटली की प्यारी लाल शराब लेकर। वह पहाड़ी की घाटी में घुस जाती है, इधर-उधर ढूंढ़ती है, दौड़ती है, थकती है, बेहोश होती है, फिर उठती है, चलती है, चिल्लाती है--स्पिना! स्पिना! किन्तु कोई उत्तर नहीं देता। जब वह योंही गिरती-पड़ती बढ़ रही है, अचानक उसे आवाज सुनाई देती है। यह आवाज स्पिना की है? नहीं, यह भेड़िये की आवाज है! यह आवाज उससे अपरिचित नहीं। वह समझ जाती है, उसका अन्त निकट है। एक बार जोरों से चिल्लाती है--स्पिना! स्पिना! किन्तु मानव-आवाज शांत भी नहीं हुई कि वह खूंखार आवाज उसके अति निकट आ गई। वह घुटने टेक देती है, प्रार्थना करती है, मूर्च्छित होती है।...

उपन्यास यहीं समाप्त होता है! उपन्यास का प्रारम्भ हुआ था एक पादरी की ज्ञान-वाणी से, उसका अन्त होता है एक पवित्रात्मा की करुण पुकार से। इसके बीच क्रांतिकारी का वह संघर्षमय जीवन। संघर्ष सिर्फ ऊपर का नहीं, भीतर का भी। सिलोने की तरह ही रूपोशी के लिए नायक ने पादरी का बाना धारण कर लिया है। भीतर क्रांति की ज्वाला सुलग रही है, ऊपर दकियानूसी का चोगा लटक रहा है--इस द्वंद्वमयी परिस्थिति में जैसे नायक की आत्मा कभी आग में झुलसती है, कभी बर्फ में ठिठुरती है। फिर एक तरफ किताबी ज्ञान, दूसरी तरफ जन-जीवन का यथार्थ परिचय—दोनों में कितना अन्तर है! यह देखकर नायक की दशा अजीब दुविधामयी हो जाती है। वह नये-नये अनुभवों से गुजरता है, ये अनुभव मार्मिक पीड़ा लाते हैं, किन्तु वह कभी विच-लित नहीं होता, हमेशा कर्ममय बना रहता है। उसके अन्त को अनिर्दिष्ट

रखकर तो सिलोने ने और भी कमाल किया है। इस तरह यह पुस्तक निराशा का वातावरण नहीं उपस्थित करती, सतत प्रयत्न का ही संदेश देती है।

इस पुस्तक के पढ़ते समय गोर्की की 'मदर' की बार-बार याद आती है; किन्तु गोर्की की उस अनुपम कृति से इसमें विशेषता है। वह कृति आरम्भ से ही पाठकों को एक खास दिशा की ओर ले जाती है, यों उच्चकोटि की कलाकृति होने पर भी वह प्रचार से दूर नहीं है। किन्तु इस पुस्तक के पढ़ते समय यह कहीं नहीं मालूम पड़ता कि लेखक की अपनी मान्यता क्या है? लगता है, वह निरपेक्ष भाव से अपने नायक के पीछे चलता हुआ, उसकी शारीरिक और मानसिक गति का चित्र-पर-चित्र उपस्थित करता जा रहा है। यह चित्रण इतना स्वाभाविक और जीवनमय है कि कहीं ऊब या वितृष्णा पैदा नहीं होती। घटनाओं का ताना-बाना कहीं-कहीं ऐसा जटिल है कि जासूसी उपन्यासों का-सा मजा आ जाता है। हर स्थान पर एक संघर्षशील आत्मा की छटपटाहट का अनुभव होता है। जान पड़ता है, इस छटपटाहट से कितनी ही बार पाठक को स्वयं भी गुजरना पड़ा है। इटली के प्राकृतिक दृश्यों की ऐसी पृष्ठभूमि रखी गई है कि उसकी मिट्टी, उसके पेड़-पौधे, उसके झोंपड़े, उसके मन्दिर, उसके महल, उसके राजपथ, उसकी पगडंडियां—सब चलचित्र की भांति आंखों के सामने अनायास घूमने लगते हैं।

'रोटी और शराब'—संसार की सुन्दरतम कृतियों में गिनी जायगी। क्या अपने देश के संघर्षों का ऐसा चित्र नहीं उपस्थित किया जा सकता!

: १२ :

'एक भारतीय आत्मा'

सतपुड़ा की तलहटी में, नर्मदा के किनारे, एक गांव में एक गोरा-सा लड़का कुछ फूल-पत्तों तथा कागज के टुकड़ों को लेकर एक दुनिया का निर्माण कर रहा था कि पड़ोस के घर से एक बालिका निकली। हौले कदमों से, वह चुपचाप आगे बढ़ती गई और एक ही झपाटे में उस बालक की दुनिया का सर्वनाश कर, खिलखिलाती हुई भाग चली। इसके पहले भी, वह इस आठ-नौ वर्ष के बालक को, कई बार तंग कर चुकी थी; किन्तु इस बार उसका यह नटखटपन बालक को बहुत खला। उसकी आंखों में दो मुक्ताएं चमक पड़ीं; किन्तु उन्हें दरिद्र की निधि की तरह, उसने जहां-का-तहां जब्त कर लिया। अब उसका गोरा चेहरा तमतमा उठा—लाल, सुर्ख। वह चुपचाप वहां से चलता बना। घर आया। अपना बस्ता खोला। कागज निकाला। सरकंडे की कलम से उसपर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींचने लगा। फिर कागज को बड़ी सावधानी से मोड़कर अपनी जेब में रख, वह गांव से बाहर ग्राम-रक्षक की तरह खड़े हुए पुराने पीपल के पेड़ के निकट आ खड़ा हुआ। इधर-उधर देखा। जेब से कागज निकाला, उसको फिर पढ़ा और साथ में लाई हुई लोहे की एक कील को उस पेड़ में ठोककर उससे उस कागज को लटका दिया। एक-बार इधर-उधर देखा कि किसीने देख तो नहीं लिया और फिर नौ-दो ग्यारह हो गया। कुछ देर के बाद ही उस पेड़ के निकट एक छोटी-सी भीड़ लग गई। लोगों ने समझा, किसी के खेत की नीलामी का इश्तहार अदालत का चपरासी टांग गया है। उत्सुकतावश जब उसे देखने लगे तो पाई उसमें एक कविता—यदि उसे कविता कहा जाय तो उस कविता द्वारा उस बालिका से बदला चुकाया गया था। बालिका का नाम था द्रौपदीबाई और उसके पिता का धनीरामजी। बस, दोनों के नाम के साथ,

कुछ और अंटशंट नामों को गूंथगांथ कर, एक अजीबो-गरीब रचना की गई थी—

"धनीराम की गोली पाई,
उससे निकली द्रौपदी बाई।
द्रौपदी बाई ने काटी जामन,
उससे निकला कलुआ बामन।
कलुआ बामन लाया खाट,
उससे निकला काशी भाट।"

आदि-आदि।

थोड़ी ही देर में यह कविता गांव-भर में फैल गई। अपराधी रचयिता का पता भी नहीं छुप सका। बालिका के पिता बालक के अभिभावक के पास दौड़े-दौड़े आये और क्रोधपूर्ण उलाहना दिया। प्राचीन संस्कार में पले अभिभावक को भला यह शिष्टाचारोल्लंघन कैसे पसन्द आता! गोकि बालक प्यारा था, किन्तु गोशमाली करने से बाज न आये। यों, इस बाल-कवि को अपनी कविता के प्रथम पुरस्कार के लिए अपने कान की मरम्मत करानी पड़ी। भला, उस समय यह किसने कल्पना की होगी कि एक दिन यही बालक हिन्दी संसार में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से सादर स्थान पायगा।

... ...

पं० माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' का जन्मस्थान होने का गौरव महाकोशल के होशंगाबाद जिले के बाबई नामक ग्राम को प्राप्त है। उनका जीवन उस भूभाग में ही बीता है, जो सदा नर्मदा के जल से सिंचित होता रहा है। अतः एक लेखक ने उनका परिचय 'नर्मदा तट का गायक' के नाम से दिया था, जो सर्वथा उचित है। उनके जीवन पर ही नहीं, उनकी कविता पर भी नर्मदा नदी की छाप है। पहाड़-पहाड़ियों और पथरीली भूमि में उछलती-कूदती, लड़ती-झगड़ती-सी, तरंगमयी, भंवरमयी, यौवनसूचक, फेनमयी—कलकल-छलछल, हाहा-हूहू करनेवाली नर्मदा, 'ठंडी शक्ति' की दुर्द्धर्षता और अजेयता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। अपने गायक के जीवन और

वाणी में भी निस्सन्देह उसने अपनी इन विशेषताओं को, बहुत कुछ अंशों में, भर रखा है।

उनकी जन्म-तिथि है चैत्र शुक्ल एकादशी, सम्वत् १९४४ विक्रम (सन् १८८७)। 'एक भारतीय आत्मा' पेट की बीमारियों के सदा शिकार रहे हैं, जिसके कारण अनाहार और स्वल्पाहार उनकी खासियत हो गई है। अतः उनकी माताजी इस जन्म-दिन, एकादशी की ओर लक्ष्य करके जब-तब फबती कसा करती हैं—"अन्न तेरे बांट कहां पड़ा, जो तू खाय—तू तो एकादशी को जन्मा है।" उनके पिताजी का नाम था नन्दलालजी चतुर्वेदी। यह ग्रामीण स्कूल के एक साधारण मास्टर थे, किन्तु अपनी परिमित आय से ही अपने परिवार का इस प्रकार व्यवस्थापूर्वक भरण-पोषण करते थे कि लोगों को आश्चर्य होता था। स्वावलंबन और स्वाभिमान की तो वह मूर्ति थे। जिस समय आज के 'एक भारतीय आत्मा' नाम से प्रख्यात उनके प्यारे पुत्र, उस समय के माखनलाल, ने अपने पैतृक धन्धे स्कूलमास्टरी से प्रारम्भ कर अपनी कमाई का पहला पैसा—कुछ रुपये—उनके पास मनीआर्डर से भेजा तो उन्होंने उस मनीआर्डर को, कूपन पर यह लिखकर, लौटा दिया—

"आस पराई जो करे, होते ही मर जाय।"

माताजी की वीरता की तो एक ऐसी करुण कहानी है कि यदि आज भी उन्हें कोई ये पंक्तियां सुना दे, तो दो-एक दिन का उपवास वह जरूर करें—जब-जब उसकी चर्चा चल पड़ी है, वह ऐसा ही करती आई हैं। सुनते हैं, वीर और करुण रस परस्पर-विरोधी हैं; किन्तु इस घटना में इन दोनों का समावेश विचित्र रूप मे हुआ है—

'एक भारतीय आत्मा' के पिताजी स्कूलमास्टर थे। गांव के एक छोर पर उनकी झोंपड़ी थी। रात में लड़कों को खानगी पढ़ाने उन्हें उनके घर पर जाना पड़ता था और कभी-कभी देर से भी लौटते थे। मध्य-प्रान्त तो आज भी जंगलों और टीलों-पहाड़ियों से भरा प्रदेश है। उस समय इस जंगली प्रदेश में चीतों की भरमार थी, अतः माताजी सदा अपनी बगल में एक लाठी लेकर सोती थीं। यह आदत नगर में भी आने पर बनी रही। एक रात को पंडित

नन्दलालजी पढ़ाकर कुछ देर से लौटे और दरवाजा खटखटाया। माताजी ने पूछा, "कौन ?" पण्डितजी को विनोद सूझा—चुप रहे। फिर दरवाजे पर खटखटाहट, फिर कौन का प्रश्न। एक-दो बार यही क्रम रहा। माताजी को आशंका हुई, अतः झूठ-मूठ, यह बतलाने के लिए कि घर में कोई पुरुष भी है, बोलीं, "माखनलाल के पिताजी, उठिये, कोई दरवाजा खटखटा रहा है।" किन्तु इस चकमे में स्वयं माखनलाल के पिताजी कैसे आते ? फिर दरवाजे पर खटखटाहट ! माताजी की आशंका दृढ़ हो गई; किन्तु अबला की तरह चीखने-चिल्लाने की अपेक्षा उन्होंने अपनी लाठी संभाली और आगे बढ़ीं। दरवाजा खोला तो सामने एक मनुष्य की सूरत दीख पड़ी। बस, फिर क्या था, उनकी लाठी उसके सिर पर ! एक धीमी आह !—अरे, यह तो पण्डितजी हैं ! माताजी को काटो तो खून नहीं ! उधर पण्डितजी के सिर से खून जारी। रोशनी की, दवा-दारू की, रोईं और उपवास किया। आज भी कहा करती हैं—मुझे इसके लिए नरक भोगना पड़ेगा। किन्तु इस घटना ने पं० नन्दलालजी की आंखों में अपनी इस वीर पत्नी की कीमत कई गुना बढ़ा दी। जबतक वह जीवित रहे, पत्नी की इस वीरता की चर्चा अभिमान से करते रहे। पं० नन्दलालजी के पूर्वज राजस्थान से आकर मध्य-प्रदेश में बसे थे। तो क्या इस घटना को राजस्थानी वीरांगनाओं के रक्त की एक झलक समझा जाय ?

... ...

'एक भारतीय आत्मा' उन पुरुषों में से हैं, जो आप अपना निर्माण करते हैं। एक पूरे परिवार का संचालन करनेवाले देहाती स्कूल के मास्टर अपने पुत्र को ज्यादा-से-ज्यादा जो शिक्षा दे सके, वह थी प्राइमरी तक की। प्राइमरी पास करके 'एक भारतीय आत्मा' होशंगाबाद जिले के ही एक ग्राम में मास्टरी करने लगे। फिर वहां से खण्डवा चले आये। वहां के बम्बई बाजार के एक प्राइमरी स्कूल में अध्यापक का काम किया। जिन लोगों ने उन दिनों एक गोरे, दुबले-पतले, युवक को दर्जनों बच्चों के बीच बैठे, उन्हें बारहखड़ी और पहाड़ा रटाते, देखा होगा, क्या उन्होंने कल्पना भी की होगी कि यही दुबला-पतला,

लजीला-सा युवक एक दिन न केवल इसी नगर का, वरन् इस प्रान्त का एक प्रमुख पुरुष होगा और कितने ही प्रतिभाशाली सुशिक्षित युवक दूर-दूर से आकर इससे साहित्य की बारहखड़ी और कविता का पहाड़ा पढ़ेंगे !

किन्तु जिन्होंने उस समय भी ध्यान से देखा होगा, उन्होंने इस युवक में कुछ ऐसी चीजें, बीज-रूप में, पाई होंगी, जिससे कि उसके भावी जीवन की एक धुंधली-सी तस्वीर बनाई जा सके।

जैसा कि कहा जा चुका है, कवित्व के नाम पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीर खींचना तो 'एक भारतीय आत्मा' ने आठ-नौ वर्ष की उम्र से ही प्रारम्भ कर दिया था। पिताजी तुलसीकृत रामायण और सूरदास आदि के वैष्णव-पदों के बड़े भक्त थे। अतः उन्होंने अपने पुत्र की रुचि स्वभावतः ही इस ओर खींची और इस प्रकार प्रथम-प्रथम साहित्यिक गुरु का काम किया। जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' प्राइमरी स्कूल की गुरु-ट्रेनिंग में पढ़ते थे, पं० कुन्दनलाल नामक एक सज्जन अध्यापक थे। कविता में उन्हें शौक था। अपने इस प्रतिभाशाली छात्र में भी उन्होंने इस शौक को पल्लवित किया। सन् १६०३ में ही, सोलह वर्ष की अवस्था में, इस किशोर ने एक कविता के द्वारा सरस्वती से यों प्रार्थना की थी—

"जाही हाथ ताने सूर, तुलसी व कालिदास,
वाही हाथ मेरी मात, मोको तान दीजिये।"

खण्डवा में भी गुपचुप रचनाएं चलती थीं; किन्तु अपनेको जब्त रखने की भावना इतनी प्रबल थी कि प्रकट नहीं होने दिया जाता था। आज भी यह रोग (मैं तो इसे रोग ही कहूंगा) बना हुआ है। यही कारण है कि वर्षों से कितने ही प्रकाशकों से आग्रह तथा कितने ही मित्रों और भक्तों के दुराग्रह के बाद भी इनकी कविताओं में संग्रह नहीं प्रकाशित हो सका था। उस समय की केवल एक रचना कानपुर के 'रसिक मित्र' में छपी और निस्संदेह वही 'एक भारतीय आत्मा' की प्रथम प्रकाशित रचना है। उसकी दो पंक्तियां यहां मैं इसलिए दे देता हूं कि उनसे पता चलता है कि कवि की विचार-धारा उसके किशोर

जीवन से ही किस ओर प्रभावित हो रही थी—

"जायगो हमारा धन-धाम लुटि दूर देस,
कोई नाहिं चलिबे को मारग बतायगो।
तायगो हरेक बलवान बनि, दीनन को,
हीनन को मानहु खजानो बिललायगो।"

देश-प्रेम की धारा में ही अपनी काव्य-प्रतिभा को विलीन कर देने-वाले, नेतृत्व का बाना धर कितने ही तरुणों को बलि-पथ की ओर प्रेरित करनेवाले और बलवानों के उत्पीड़न और शोषण से दीन-हीनों की रक्षा करने को सदा उद्यत रहनेवाले 'एक भारतीय आत्मा' की आत्मा के भावी विकास का बहुत-कुछ आभास इस कोरी तुकबन्दी में भी मिलता है।

पन्द्रह-सोलह से लेकर पच्चीस-छब्बीस तक की उम्र के नौ-दस वर्ष ऐसे होते हैं, जिनका प्रभाव जीवन के गठन पर बहुत ही अधिक पड़ता है—ऐसा विद्वानों का कथन है। इन वर्षों के अन्दर ही 'एक भारतीय आत्मा' पर तीन सज्जनों का प्रभाव पड़ा और उनके भावी जीवन का गठन भी तदनुसार हुआ। वे तीनों महापुरुष हैं—सैयद अमीर अली 'मीर', स्वामी रामतीर्थ और पं० माधवराव सप्रे। इन तीनों के प्रभाव के कारण 'एक भारतीय आत्मा' के हृदय में बीज-रूप विद्यमान कवि-प्रतिभा, आध्यात्मिकता और देशभक्ति का पूर्ण विकास हुआ।

मुसलमान होकर भी हिन्दी के अनन्य सेवक, सुकवि मीरजी को आज हिन्दी-साहित्य-प्रेमी भूल-से रहे हैं। १९०८-९ की बात है। 'छन्द-प्रभाकर' और 'काव्य-प्रभाकर' के रचयिता श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' सेटिलमेंट-अफसर के रूप में उस समय खंडवा में रहते थे। 'भानु कवि समाज' नामक संस्था भी उन्होंने यहां कायम कर कर रखी थी। उस समय 'काव्य-प्रभाकर' का संकलन चल रहा था। भानुजी ने मीरसाहब को रेवेन्यू इन्स्पेक्टर की जगह पर अपने पास बुला लिया था। इस प्रकार खंडवा-जैसी छोटी जगह में भी साहित्य और कविता का एक बिचित्र वायु-मंडल तैयार हो रहा था। युवक 'एक भारतीय आत्मा' को मीरसाहब ने देखा और इनकी प्रतिभा पर मुग्ध हो गए। यही नहीं, उन्होंने इन्हें

खूब उत्साहित किया तथा काव्य-रीति से व्यापक परिचय कराया। 'एक भारतीय आत्मा' अपने काव्य-गुरु के रूप में मीरसाहब का स्मरण करते हुए आज भी गद्गद हो उठते हैं। मीरजी की संगति ने उन्हें हिन्दू-मुस्लिम-एकता का कट्टर हामी बना दिया। १६२१ के क्रान्ति-युग में निकली हुई 'एक भारतीय आत्मा' की इन पंक्तियों में मीरसाहब की आत्मा मुस्करा रही है--

"मन्दिर में हो चांद चमकता, मस्जिद में मुरली की तान।
मक्का हो चाहे वृन्दावन, होवें आपस में कुर्बान।"

स्वामी रामतीर्थ से साक्षात्कार करने का सौभाग्य तो 'एक भारतीय आत्मा' को नहीं हुआ; किन्तु उनकी रचनाओं ने उनको सबसे अधिक प्रभावित किया। स्वामी राम के कर्तृत्व से ओत-प्रोत, देश-प्रेम से लबालब आध्यात्मिकता के घूंट ने किस सहृदय को एक बार मस्त न बना दिया होगा! फिर कहने और लिखने की उनकी वह अनूठी शैली! स्वामी राम के शिष्य सन्त पूरणसिंह की हिन्दी-रचनाएं भी उस समय यदाकदा निकला करती थीं। उनमें भी वही नवीन चीजें नवीन ढंग से पेश की गई मिलती थीं। 'एक भारतीय आत्मा' का भावुक हृदय इनकी ओर खूब ही खिंचा। आज भी 'एक भारतीय आत्मा' की रचनाओं में, चाहे वे पद्य में हों या गद्य में, जो एक खास शैली दीख पड़ती है, उसका उद्गम-स्थान है स्वामी रामतीर्थ के वे प्रवचन, यद्यपि इनकी शैली, स्थान, काल, पात्र के भेद से बिलकुल एक स्वतन्त्र—इनकी अपनी चीज ही बन गई है!

इसी समय आपको पं० माधवराव सप्रे के सत्संग में आने का सौभाग्य मिला। लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' के हिन्दी-अनुवादक के ही रूप में हिन्दी-संसार मुख्यतः सप्रेजी को जानता है; किन्तु सप्रेजी केवल इतने ही नहीं थे। मध्यप्रान्त के सार्वजनिक जीवन के निर्माण में उनका प्रमुख हाथ है। महाराष्ट्रीय होने पर भी मध्यप्रान्त में हिन्दी के प्रचार, प्रसार और उसके साहित्य के निर्माण के लिए जो प्रयत्न उन्होंने किया, उसका अपना स्थान है। सप्रेजी उस समय नागपुर से 'हिन्दी-केसरी निकाल रहे थे। उन्होंने 'हिन्दी-केसरी' में 'स्वदेशी-आन्दोलन और बायकाट'

विषय पर एक लेख-प्रतियोगिता कराई और सर्वश्रेष्ठ लेख के लिए पुरस्कार देने की घोषणा की। 'एक भारतीय आत्मा' ने भी डरते-डरते एक लेख लिख भेजा। वह लेख पुरस्कार-योग्य तो ठहरा ही, साथ ही सप्रेजी उससे बहुत प्रभावित हुए, और उन्होंने प्रशंसा करते हुए 'हिन्दी-केसरी' में बराबर लेख लिखते रहने के लिए इनसे आग्रह किया। यही नहीं, कुछ दिनों के बाद सप्रेजी खंडवा आये और इनसे मिले। सप्रेजी की इस सहृदयता ने उनको बहुत ही आकृष्ट किया और वे सप्रेजी के भक्त बन गये। वह अपने राजनैतिक गुरु के रूप में सप्रेजी को मानते हैं। जबतक सप्रेजी जीवित रहे, 'एक भारतीय आत्मा' सदा उनके अनुयायी बने रहे और आज भी 'कर्मवीर' पर 'स्व० पं० माधवरावजी सप्रे की स्मृति में' यह वाक्य छापकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर रहे हैं !

... ...

धीरे-धीरे खंडवा में एक छोटा-सा, किन्तु क्रियाशील, क्षमताशाली साहित्यिक दल तैयार हो रहा था। इस दल में 'एक भारतीय आत्मा' के अतिरिक्त स्वर्गीय माणिकचन्द्र जैन, श्री कालूराम गंगराड़े, पं० रामलाल राजवैद्य, श्री चम्पालाल चौहरी, श्री तोताराम पारगीर आदि सज्जन थे। धर्माध्यक्ष पं० बिहारीलाल दाधीच भी उनमें प्रमुख थे, जो 'एक भारतीय आत्मा' के खास प्रेरकों में से थे। इनमें अधिकांश नौजवान थे। बाबू माणिकचन्दजी तो ऐसे उत्साही साहित्य-प्रेमी थे कि इन्होंने यहां 'हिन्दी ग्रन्थ-प्रसारक-मंडली' की स्थापना की थी, जिसके द्वारा सर्वप्रथम 'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी-नवरत्न' नामक दो ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ था। मौलियर के नाटकों का अनुवाद और प्रोफेसर बदरीनाथ वर्मा द्वारा किया गया कवीन्द्र-रवीन्द्र की 'समाज' नामक बंगला-पुस्तक का अनुवाद भी इसी संस्था से प्रकाशित किया गया था। श्री कालूराम गंगराड़े के सम्पादकत्व में इसी समय 'प्रभा' निकली, जिसके सम्पादन-विभाग में 'एक भारतीय आत्मा' भी थे, और बाद में तो सम्पादकों में इनका नाम भी छपने लगा। 'प्रभा' निकलते ही इन्होंने स्कूल की मास्टरी छोड़ दी और अपना पूरा समय इसके सम्पादन और संचालन में देने

लगे। 'प्रभा' ने इनकी प्रतिभा को और भा चमका दिया और इनमें एक सफल सम्पादक के गुण विद्यमान हैं, यह भी प्रकट कर दिया। किन्तु अपनेको जब्त करने की भावना अब भी बनी हुई थी कि इसी समय एक ऐसे सज्जन से भेंट हुई, जो इन्हें घसीटकर जनता के सम्मुख ले आये।

संयोग की बात। सन् १९१३ की रामनवमी को 'प्रभा' निकली और उसी साल विजयदशमी को 'प्रताप'। 'प्रताप' को देखते ही 'एक भारतीय आत्मा' को उसमें कुछ अपनापन-सा जंचा। उन्होंने 'प्रताप' पर अपनी सम्मति भेज दी। उसमें पता रखा—द्वारा पोस्टमास्टर, खंडवा। इसी पते से 'प्रताप' के यशस्वी सम्पादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का उत्तर आया, जिसमें 'प्रताप' को अपनाने का खास आग्रह था। पत्र द्वारा ही धीरे-धीरे घनिष्ठता में भी अभिवृद्धि होने लगी। अब एक-दूसरे को देखने की उत्कंठा जगी। संयोग से वैसा अवसर भी आ ही गया।

लखनऊ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पं० श्रीधर पाठक के सभापतित्व में हुआ। 'प्रभा'-सम्पादक 'एक भारतीय आत्मा' भी उसमें शामिल हुए और 'प्रताप'-सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी भी; किन्तु जबतक अधिवेशन होता रहा, दोनों की मुलाक़ात नहीं हुई। सम्मेलन दशहरे की छुट्टियों में हुआ था। उस साल विजयादशमी और मुहर्रम साथ-साथ पड़ते थे। मुसलमानों ने इस आकस्मिक घटना को आपस में मिलने का ईश्वरीय सन्देश समझा था। समूचा लखनऊ—चाहे हिन्दू का घर हो या मुसलमान का—दीपमालिका से आलोकित हो रहा था। उस अपूर्व अवसर का अपूर्व सुख लूटते, दो छोटी-छोटी मित्र-मंडली का नेतृत्व करते, दो युवक, दो दिशाओं से आकर लखनऊ के चौक पर पहुंचे। दोनों ने एक-दूसरे को देखा। एक ने कहा, "आप गणेशशंकरजी हैं?" दूसरे ने उत्तर दिया, "आप 'एक भारतीय आत्मा' हैं?" दोनों के गले में दोनों की बांहें थीं—सलाम-बन्दगी, शिष्टाचार और आधुनिक सभ्यता के नियम-कानून एक ओर रह गये! उसी दिन से दोनों एक ऐसे सूत्र में बंधे कि एक की मृत्यु भी उस सूत्र को

नहीं तोड़ सकी। 'एक भारतीय आत्मा' की खूबी उनकी शोक-कविताएं भी हैं। अपनी धर्मपत्नी, लोकमान्य, सप्रेजी, कांग्रेस-सत्याग्रह के शहीद बिहारी-युवक हरदेवसिंह आदि के निधन पर आपने जो पंक्तियां लिखी हैं, वे अमर हैं, अजर हैं। मैंने एक दिन कहा, "आपने गणेशजी पर कुछ नहीं लिखा!" आंखें छलछला उठीं, बोले, "क्या कहूं, आज भी लिखने बैठता हूं तो आंखों में दल-बादल उमड़ आते हैं और छाती की धड़कन की बीमारी इस तरह उग्र हो जाती है कि कहां का लिखना! देखिये, यदि कुछ दिनों के बाद भावावेश कम हुआ तो लिखने की कोशिश करूंगा--चाहता तो जरूर हूं।"

गणेशजी उस समय आपको खींचकर कानपुर ले गये। वह स्वयं भी अब खंडवा आम-जान लगे। जब-जब आते, एक काम जरूर करते। इनके कागज-पत्र, किताबें-कापियां, चिट्ठी-पुर्जे खोज डालते और जहां भी इनकी कविताएं पाते, अपने साथ ले जाते और जब इच्छा होती, छपवाते।

गणेशजी के इस अत्याचार से, यदि इसे अत्याचार कहा जाय तो, हिन्दी-संसार का जो उपकार हुआ, उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं; अन्यथा तो न जाने कितनी कविताएं अप्रकाशित ही रह जातीं या सड़-गल गई होतीं!

... ...

'एक भारतीय आत्मा' के जीवन में इन्हीं दिनों अचानक एक ऐसी घटना घटी, जिसने इनके समूचे जीवन की धारा ही बदल दी। यह घटना थी, इनकी पत्नी की मृत्यु। जब आप चौदह वर्ष के थे, तभी आपका विवाह हो गया था। उस समय देवीजी की उम्र कुल दस वर्ष की थी। जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' अट्ठाईस वर्ष के युवक थे, उसी समय १९१४ के दिसम्बर में, देवीजी का अचानक स्वर्गारोहण हुआ। पत्नी को ये कितना प्यार करते थे, या यों कहिये उस सुयोग्या पत्नी ने इनके हृदय पर कैसा स्थान बना लिया था, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इस चढ़ती हुई जवानी में ही पत्नी के चल बसने पर भी इन्होंने दूसरी शादी नहीं की। नई शादी करने के लिए कुछ कम आग्रह नहीं हुआ। स्वयं गणेशशंकरजी

इनसे आग्रह करने के लिए आये थे, और गणेशजी के हठ को मानकर इन्होंने 'हां' भी कर दी थी; किन्तु गणेशजी के कानपुर पहुंचते-न-पहुंचते, एक लम्बी कविता 'एक भारतीय आत्मा' की ओर से उन्हें मिली। उस कविता को पढ़कर फिर गणेशजी ने पुनर्विवाह की चर्चा तक नहीं चलाई।

स्वर्गीया पत्नी इनकी कविता की बिन्दु ही बन गई। यही नहीं, इनके जीवन में भी उन्होंने अमिट छाप लगा दी। शरीर के सदा के लिए रोगी बन जाने के लिए भी मुख्यतः यही घटना उत्तरदायी है—कई डाक्टरों और वैद्यों तक ने कहा। मानसिक रुझानों के समझने के लिए भी यह घटना कुंजी-रूप है। 'एक भारतीय आत्मा' को बच्चों से अपार स्नेह है। जितना ही छोटा बच्चा, उतना ही अधिक प्रेम। गोद के बच्चों या पैजनियांवाले लल्लों के साथ तो दिन-के-दिन बिता देना इनका स्वभाव हो गया है। यह स्नेह इस कोटि तक पहुंच गया है कि कितने ही युवक तक इनको अपनी साहित्यिक मां समझते हैं।

इस मातृपद के पाने में इनकी पत्नी की मृत्यु प्रधान कारण है। देवीजी बच्चों को बहुत प्यार करती थीं। यद्यपि उन्हें सन्तान प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ, तथापि इससे मातृपद प्राप्त करने में उन्हें बाधा न हुई। पतिदेव मास्टर थे, अतः स्कूल के बच्चों पर अपने वात्सल्य की वर्षा करने का उन्हें अवसर मिला। उस मातृ-ममता की धरोहर, अपने प्रस्थान के समय, वह 'एक भारतीय आत्मा' को सौंप गई हैं। इधर इन्होंने बच्चों पर बहुत-सी कविताएं भी लिखी हैं, जो इनके मातृ-हृदय की सूचक तो हैं ही, हिन्दी-साहित्य के लिए भी अनूठी चीज हैं।

... ...

द्रव्याभाव के कारण 'प्रभा' बन्द हो गई। किन्तु तबतक 'एक भारतीय आत्मा' की कीर्ति दूर-दूर तक फैल चुकी थी और प्रान्त के सार्वजनिक जीवन में भी आप भाग लेने लगे थे। सन् १९१५ में जबलपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति पटना के सुप्रसिद्ध दार्शनिक-शिरोमणि साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा

बनाये गये थे। इस सम्मेलन को सफल बनाने में इन्होंने पं० माधवराव सप्रे के साथ खूब उद्योग किया। इनकी इच्छा तो यहां तक थी कि यह सम्मेलन खंडवा में ही हो; किन्तु कई कारणों से ऐसा न हो सका। इसी सम्मेलन में लोगों ने 'एक भारतीय आत्मा' को एक नये रूप में भी देखा।

खंडवा की साहित्यिक जाग्रति का एक रूप था वहां का 'नार्मदीय नाटक-समाज'। इस समाज के द्वारा शुद्ध साहित्यिक नाटकों के अभिनय का आयोजन होता था। इसके पात्रों में 'एक भारतीय आत्मा' भी काम करते थे। 'नार्मदीय नाटक-समाज' ने प्रान्त की ओर से होनेवाले जबलपुर के इस साहित्यिक समारोह के अवसर पर एक मौलिक नाटक खेलने का आयोजन किया और खेला भी। उस नाटक का नाम था 'कृष्णार्जुन-युद्ध'। कृष्ण और अर्जुन का प्रेम तो जगत्प्रसिद्ध है, फिर यह युद्ध कैसा? यों, एक तो नाम ही आकर्षक, फिर समूचे नाटक की रचना, उसकी भाषा-शैली, उसके गानों की मधुरता, उसके कथानक की आधुनिकता—इन सब पर हिन्दी-संसार के कोने-कोने से एकत्र हुए साहित्यिक रसिक मन्त्र-मुग्ध हो गये। "इसका रचयिता कौन है?"—"कौन है इसका लेखक?" का शोर रंगमंच पर ही मचने लगा। इसी समय एक दुबली-पतली, सीधी-सादी, गोरी-सी युवक-मूर्ति वहां खड़ी की गई। तालियों-पर-तालियां बजने लगीं। हर्षध्वनि से रंगमंच गूंज उठा। लोगों ने देखा, यह युवक एक शिल्पी कवि और एक कलाविद् पत्रकार ही नहीं है, एक कुशल नाट्यकार भी है। तब से यह नाटक न जाने कहां-कहां और कितनी बार खेला जा चुका है। जबलपुर के उस साहित्यिक समारोह के समय ही दो-तीन दिन लगातार खेला गया। यदि रंगमंच की सफलता के साथ-साथ साहित्यिकता पर खयाल किया जाय तो यह नाटक आज भी अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता है।

किन्तु जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' की चहुंमुखी प्रतिभा को लोग विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखते थे, ठीक उसी समय उस घुन ने, जो पत्नी-वियोग के साथ ही इनके शरीर में प्रवेश करके धीरे-धीरे इनके शरीर को जर्जर कर चुका था, १६१६ में इन्हें शैयाशायी बना दिया।

इस समय से पूरे तीन वर्ष तक ये मृत्यु और जीवन के हिंडोले पर बारी-बारी से झूलते रहे। बीमारी की भयंकरता का अनुभव करके 'प्रताप' के संचालक श्री शिवनारायणजी मिश्र एवं गणेशजी इन्हें कानपुर लिवा ले गये और उस बड़े शहर में जितने भी उपचार-सम्भव हो सकते हैं, किये गए, किन्तु रोग समूल नष्ट नहीं हुआ। अम्लपित्त की शिकायत थी। शरीर का वजन घटते-घटते चौंसठ पौंड तक आ पहुंचा। कानपुर में भी इन्हें पूर्णतया स्वस्थ न होते देख इन्दौर के नामी चिकित्सक और साहित्य-प्रेमी डा० सरयूप्रसाद तिवारी इन्हें इन्दौर ले आये। इन्दौर में एक वर्ष तक रहे। डाक्टर तिवारी के हाथों को यश मिला। 'एक भारतीय आत्मा' को मानों नवजीवन मिला।

इसी अर्से में इन्दौर में महात्मा गांधी के सभापतित्व में हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ था। इस बीमारी की दशा में भी इन्होंने इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के कार्य में यथाशक्ति सहायता दी थी।

... ...

१९१९ में बीमारी से छुटकारा पाकर फिर 'एक भारतीय आत्मा' अपनी कर्मभूमि खंडवा पधारे। उसी साल खंडवा में मध्यप्रान्तीय राजनैतिक और साहित्य परिषदें हुई। साहित्य-परिषद् में एक प्रस्ताव पास किया गया कि इस प्रान्त से एक साप्ताहिक पत्र हिन्दी में निकाला जाय, क्योंकि तबतक सप्रेजी का 'हिन्दी-केसरी' बन्द हो चुका था।

इस अवसर पर डाक्टर मुंजे भी खंडवा पधारे थे। उन्होंने 'एक भारतीय आत्मा' से आग्रह किया कि नागपुर चलिये, वहीं से एक पत्र निकाला जायगा। उस समय के डाक्टर मुंजे की गिनती लोकमान्य के प्रधान शिष्यों में होती थी और अपनी ओजस्विता और तेजस्विता के लिए वे काफी मशहूर थे। इन्होंने उनकी सलाह मान ली होती, यदि उसी अवसर पर पं० विष्णुदत्त शुक्ल ने भी इनसे यह अनुरोध न किया होता कि जबलपुर चलिये—वहीं से एक पत्र निकाला जायगा। शुक्लजी की सादगी, निष्ठा, सौम्यता और सज्जनता ने इनको अधिक आकृष्ट किया और इन्होंने उन्हींका साथ देना निश्चित किया।

आखिर एक आयोजन हुआ और लोगों ने 'कर्मवीर' का प्रथम

दर्शन किया। इसके सम्पादक 'एक भारतीय आत्मा' बनाये गये। 'कर्मवीर' ने इनकी सम्पादन-कला पर सफलता की मुहर लगा दी।

'कर्मवीर' इनको एक राजनैतिक कार्यकर्त्ता के रूप में भी जनता के सामने खींच लाया। यद्यपि अपने उग्र राजनैतिक विचारों और पं० माधवराव सप्रे-जैसे लोगों के सहवास के कारण सन् १९०८ से ही अपने घर के आसपास पुलिसवालों का चक्कर लगाना और जब-तब भद्दी आंख-मिचौनी-सी करना ये देखते आ रहे थे; "अब तो बात फैल गई जाने सब कोई!"

१९२० में 'कर्मवीर' निकला—उस समय जबकि रौलट-ऐक्ट के कारण समूचे देश का वायुमंडल विक्षुब्ध हो रहा था। दक्षिण अफ्रीका का 'कर्मवीर' गांधी, 'महात्मा' गांधी के नाम से, देश की प्रशान्त क्रांति की समिधा एकत्र कर रहे थे। 'कर्मवीर' ने इस क्रांति का सादर स्वागत किया और मध्यप्रान्त के कोने-कोने में इसके सन्देश को पहुंचाने का भार अपने ऊपर ले लिया। 'कर्मवीर' की पंक्तियां—चाहे लेख हों या कविताएं—महाकोशल की प्रसुप्त जनता में जीवन और जागरण का मन्त्र फूंक रही थीं। भला, नौकरशाही इसे कब बर्दाश्त कर सकती थी! सन् १९२१ के जून में आखिर उसने अपना १२४ ए० (राजद्रोह) का ब्रह्मास्त्र छोड़ा। 'कर्मवीर' के सम्पादक को आठ महीने की कड़ी कैद की सजा दी गई। 'कर्मवीर' का संचालन अपने योग्य सहकारी ठाकुर लक्ष्मण-सिंह चौहान को सौंपकर वे जेल चले गये।

१९२१ के उस प्रारम्भिक युग का जेल-जीवन आजकल के ए० और बी० डिवीजन का जेल-जीवन नहीं था। 'एक भारतीय आत्मा' की दुबली-पतली देह के भीतर निवास करनेवाली आत्मा जितनी भी जांची जा सकती थी, जांची गई; किन्तु सोना तपकर कुन्दन बनकर निकला।

१९२२ में अपनी सजा भुगतकर जब यह आये, तब एक विचित्र वातावरण देखा। एक तो सन् १९२१ के आन्दोलन में इन्होंने जैसी उम्मीद की, वैसा काम मध्यप्रान्त ने नहीं किया। इधर अब यहां स्वराज्य-पार्टी का दौर-दौरा था और जिन श्री राघवेन्द्रराव के हाथ

में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी थी, वही स्वराज्य-दल की मध्य-प्रान्तीय शाखा के कर्णधार बने हुए थे। सबसे संकट की बात तो यह हुई कि पं० विष्णुदत्त शुक्ल का भी स्वर्गवास हो गया और 'कर्मवीर' का भाग्यसूत्र भी मि० राव के ही हाथों था। 'कर्मवीर' एक लिमिटेड कम्पनी के द्वारा संचालित होता था, जिसके पांच डायरेक्टर थे—पं० विष्णुदत्त शुक्ल, दीवानबहादुर वल्लभदास, पं० गोविन्दलाल पुरोहित, ब्योहार रघुवीरसिंह और मि० राघवेन्द्रराव। जबतक शुक्लजी जीवित थे, तबतक वही इसके कर्त्ता-धर्त्ता थे, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद मि० राव की ही तूती बोलने लगी। मि० राव ने 'एक भारतीय आत्मा' से कहा कि आप 'कर्मवीर' का सम्पादन तो कीजिये, किन्तु स्वराज्य-दल का समर्थन करते हुए। महात्मा गांधी पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखनेवाले, असहयोग और सत्याग्रह के कष्ट सहन करनेवाले पथ को अपना जीवनोद्देश्य समझनेवाले 'एक भारतीय आत्मा' को इस प्रतिक्रिया के मार्ग पर ले आना एक कठिन काम था। इन्होंने एकबारगी 'नाहीं' कर दी। इस पर इनसे कहा गया कि इस्तीफा दे दीजिये; किन्तु इन्होंने इसको भी अस्वीकार कर दिया। इनका कहना था कि इस पत्र के आदि-प्रतिष्ठाता थे पं० विष्णुदत्त शुक्ल। उन्हींके परामर्श से इनकी नीति निश्चित हुई थी, और वह थी कांग्रेस-नीति। अब शुक्लजी तो नहीं रहे, किन्तु मैं अपनेको उनकी स्वर्गीय आत्मा के प्रति जिम्मेदार समझता हूं, फलतः उनकी नीति पर ही 'कर्मवीर' को चलाऊंगा। यदि आपको यह नीति नापसन्द हो तो मुझे डिसमिस कर दीजिये। मि० राव भी तो एक कैंड़े के आदमी थे! ऐसा करना उनके लिए बाएं हाथ का खेल था—'एक भारतीय आत्मा' डिसमिस कर दिये गये।

जिस 'कर्मवीर' को ये शुक्लजी की धरोहर-रूप मानते थे, जिसके पौधे को इन्होंने अपने कलेजे के खून से सींचा था, जिसके इर्द-गिर्द इन्होंने मध्यप्रान्त के तरुणों के एक गिरोह को इकट्ठा कर लिया था, जिसके भविष्य के बारे में इन्होंने कितने ही मनसूबे बांध रखे थे, उसी 'कर्मवीर' से आप डिसमिस करके निकाले गये! 'एक भारतीय आत्मा' का हृदय

उस समय चीख उठा—

"भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फल वाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनिया पलटा दी प्रबल उमंगों के बल में,
लो हम तो चल दिये, नये पौधो, प्यारी, आराम करो;
दो दिन की दुनिया में आये, हिलो-मिलो कुछ काम करो।"

किन्तु इसके बाद ही आत्म-विश्वास की ध्वनि में वे कह उठते हैं—

"पथरीले ऊंचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहां आते हैं, जो थे बागीचे जाते,
झुकी टहनियां तोड़-तोड़ कर वनचर भी खा जाते हैं,
शाखामृग कंधों पर चढ़कर भीषण शोर मचाते हैं,
दीनबन्धु की कृपा, बन्धु जीवित हैं हां, हरियाले हैं;
भूले-भटके कभी गुजरना, हम वे ही फलवाले हैं।"

यहां यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि 'एक भारतीय आत्मा' की अधिकांश कविताएं उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं की ओर संकेत करती हैं। शायद इसी कारण कभी-कभी कुछ लोगों को उनमें दुरूहता की गन्ध मालूम पड़ती है। यदि उन प्रसंगों का आभास मिल जाय तो वे कविताएं सरल और सुबोध हो जायं।

'कर्मवीर' ने 'एक भारतीय आत्मा' के सम्पादकत्व में सन् १९२१ के असहयोग-आन्दोलन में जो काम किया, सो तो किया ही; उसके उस काल के कामों में एक प्रसिद्ध काम है रतौना में कसाईखाना बनानेवाले आयोजन को बिल्कुल व्यर्थ कर देना। मध्य-प्रान्त के देहातमें किये जानेवाले इस हत्याकारी आयोजन को एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना देना और आखिर उसे बन्द कर देने के लिए प्रान्तीय सरकार को बाध्य कर देना, 'कर्मवीर' जैसे एक देशी भाषा के पत्र के लिए उन दिनों कम गौरव की बात नहीं थी।

... ...

'कर्मवीर' छोड़ने के बाद 'एक भारतीय आत्मा' होशंगाबाद के देहात

में अपने घर चले आये और वहीं रहने लगे। कुछ ही दिनों के बाद सन् १९२३ में, नागपुर का झंडा-सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। भला, ऐसे अवसर पर ये कब चूकनेवाले थे! फिर सेठ जमनालालजी की बुलाहट भी आ गई। यों तो ये सेठ जमनालालजी के सहचरों में सदा रहे थे और सेठजी से सदा इनको प्रेरणा मिलती रही थी; किन्तु यह झंडा-सत्याग्रह तो स्वयं अपनी प्रेरणा रखता था। ये उसी दम चल पड़े। किन्तु इनके नागपुर पहुंचते-न-पहुंचते नागपुर-सत्याग्रह के संचालन में लीन प्रायः सभी नेता एक-एक करके गिरफ्तार कर लिये गए। मध्य-प्रान्तीय सरकार तुली हुई थी कि येन-केन-प्रकारेण सत्याग्रह को दबा दिया जाय; किन्तु नेताओं की संगठन-बुद्धि तथा बिहार, युक्तप्रान्त, मद्रास, गुजरात आदि दूर-दूर प्रान्तों की जनता की बलिदान-भावना के कारण सरकार को झुकना पड़ा और अहिंसात्मक संग्राम की विजय हुई। इस विजय-लाभ में 'एक भारतीय आत्मा' के कर्तृत्व और लेखनी का एक अच्छा भाग था।

इसी समय फतहपुर में एक राजद्रोहत्मक भाषण के अभियोग में 'प्रताप' के प्रतापी सम्पादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी गिरफ्तार कर लिये गये, और उन्हें एक वर्ष की सजा हुई। उन्होंने 'प्रताप' का सम्पादन करने के लिए 'एक भारतीय आत्मा' का आह्वान किया। जबतक गणेशजी वापस न आ गये, इन्होंने प्रताप' के सम्पादन-कार्य को भली-भांति सम्पन्न किया। इधर गणेशजी ने एक मासिक पत्रिका भी निकालना शुरू कर दिया था—अपने अन्यतम मित्र 'एक भारतीय आत्मा' की अस्तंगत पत्रिका 'प्रभा' के ही नाम पर। गणेशजी के हाथों में जाकर 'प्रभा' कितनी चमकी, यह हिन्दी के उन दिनों के पाठकों से छिपा नहीं है। हिन्दी की अपने ढंग की वह अनूठी मासिक पत्रिका थी। राजनीति और साहित्य का उतना सम्मिश्रण अन्यत्र देखने में नहीं आया। 'प्रताप' के सम्पादक होकर आने के बाद 'प्रभा' का 'झंडा-अंक' 'एक भारतीय आत्मा' की ही देख-रेख में निकला। ऐसी चीज अब कहां देखने को मिलती है!

जब गणेशजी जेल से आये, तब उन्होंने चाहा कि 'एक भारतीय

आत्मा' 'प्रताप' के ही परिवार में रहें और मिल-जुलकर 'प्रताप' और 'प्रभा' को चलाया जाय, किन्तु यह, सब छोड़-छाड़कर मध्यप्रान्त की तलहटी में आ धमके। आज भी 'एक भारतीय आत्मा' प्रायः कहा करते हैं कि साहब, आप लोगों की गंगा की वह समतल लम्बी चादर-सी एकरस फैली हुई भूमि भी क्या रहने की चीज है! उफ्, वह कितनी गद्यात्मक है। देखिये, हमारा प्रदेश! नर्मदा और बेतवा जैसी धमा-चौकड़ी मचानेवाली नदियां; विन्ध्या और सतपुड़ा की वे नीची-ऊंची तलहटियां; पथरीली, जंगली जमीन—जीवन और कवित्व मानों यहां क्रीड़ा करते हैं!

... ...

मध्य-प्रान्त में आकर सर्वप्रथम इन्होंने झंडा-सत्याग्रह की रिपोर्ट तैयार की। तबतक 'कर्मवीर' मि० राघवेन्द्ररावजी के हाथों में जाकर बन्द हो चुका था। अब इनको यह धुन सवार हुई कि उसे फिर निकाला जाय। पं० माधवराव जी सप्रे इन्हें बाध्य करने लगे कि 'कर्मवीर' निकालना ही चाहिए। यद्यपि सभी प्रकार के साधनों का अभाव था, तथापि असम्भव को सम्भव बनानेवाले मनसूबे का अभाव तो नहीं था। इन्होंने प्रान्त में दौरा शुरू किया। 'कर्मवीर' का बन्द होना सबको अखर रहा था—एक जोरदार सुसम्पादित पत्र का अभाव भी लोग अनुभव कर रहे थे। अतः प्रान्त के लोगों ने इनके इस आयोजन के प्रति क्रियात्मक सहानुभूति दिखलाई और सन् १९२५ की ४ अप्रैल (रामनवमी) से 'कर्मवीर' का पुनः प्रकाशन प्रारम्भ हुआ; किन्तु इस बार वह जबलपुर से न निकलकर खंडवा से निकला।

१९२५ से १९३० तक 'कर्मवीर' मजे में चलता रहा। हां, इसी बीच इन्दौर के भूतपूर्व नरेश और मुमताज-सम्बन्धी आन्दोलन चला। इस आन्दोलन में 'कर्मवीर' ने काफी भाग लिया। खंडवा से निकलने के कारण मध्य-भारत के देशी राज्यों के मसलों की ओर 'कर्मवीर' का ध्यान इस बार विशेष रूप से था। उसको अपनी छोटी उम्र में ही मध्य-भारत के जैसे राज्य से लोहा लेना पड़ा, जो सभी राज्यों में प्रमुख स्थान स्थान रखता था तथा सब प्रकार के साधनों से सम्पन्न था; किन्तु

'कर्मवीर' अपने व्रत पर डटा रहा। उसका इन्दौर-राज्य में प्रवेश कानूनन बन्द किया गया। यही नहीं, वह जिनके पास पाया जाय, उन्हें दंड देने की भी व्यवस्था की गई। इससे भी उसके स्वर में कोई परिवर्तन न हुआ, तब जिन राजनैतिक दांवपेंचों से काम लिया गया, उसका यहां जिक्र न करना ही उचित होगा।

इतने में १६३० का मस्ताना साल आ गया। फिर 'एक भारतीय आत्मा' की पुकार हुई और मध्य-प्रान्तीय सरकार ने एक ही दिन में मध्य-प्रान्त के जिन पांच नेताओं को गिरफ्तार कर लिया, उनमें एक थे 'एक भारतीय आत्मा'। पांच-छः हफ्तों के बाद 'कर्मवीर' भी बन्द हो गया।

१६३१ के मार्च में जेल से छूटे, तो 'कर्मवीर' के रास्ते में एक विचित्र कठिनाई देखी। तो क्या 'कर्मवीर' बन्द रहेगा! वृद्ध हड्डियों में एक वार फिर गर्मी आई और ये पुनः भिड़ पड़े। ४ अप्रैल से फिर 'कर्मवीर' का प्रकाशन आरम्भ कर दिया गया, इधर पच्चीस वर्षों से वह एक स्वावलम्बी पत्र के रूप में प्रान्त की और हिन्दी की सेवा कर रहा है।

इन सतत संघर्षों ने चतुर्वेदीजी की काया को जर्जर बना दिया है। अब राजनैतिक संघर्षों में पड़ने की न इनकी प्रवृत्ति रही, न वह शक्ति। किन्तु इनका प्रोत्साहन सदा तरुण पीढ़ी को मिलता रहा है और आज भी मिल रहा है। हिन्दी-संसार ने इन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाकर तथा चांदी से तौलकर अपना सम्मान इनके प्रति प्रकट किया। इनकी स्वर्ण-जयन्ती भी उसने धूमधाम से मनाई। इनका प्रोत्साहन लेने के लिए अनेक लेखक और कवि सदा इनके श्रीचरणों में पहुंचा करते हैं और इन्हें वे अपने नाम के प्रथम अक्षर 'मा' के ही अनुरूप ही मानते और दुलारते रहते हैं!

: १३ :

भूख और कला

वॉन गौग यूरोप का ऐसा कलाकार हुआ है, जो जिन्दगी-भर तिरस्कार पाता रहा, किन्तु मरने के पचास वर्ष बाद ही जिसकी प्रसिद्धि इतनी बढ़ी कि जिन चित्रों को उसने रुपये-आने में बेचा था, वह आज हजारों-लाखों में बिकते हैं। इस ऊंचे कलाकार का जीवन अनोखा रहा है। इर्विंग स्टोन ने 'लस्ट फॉर लाइफ' नाम से उसकी वैसी ही शानदार जीवनी भी लिख डाली है।

बेचारा कलाकार! जिन्दगी-भर कैसी परेशानियों में रहा! चारों ओर से लांछना और अपमान ही पाता रहा। सदा अभाव में रहा। किन्तु कला के प्रति कैसी अटूट निष्ठा! चित्र-पर-चित्र खींचता रहा, खींचता रहा। और जिस विजय की आकांक्षा की, उसे मिलकर रही—हां, जीवन में नहीं, मृत्यु के बाद।

कभी-कभी उसकी व्यथा पर आंखें भर आती हैं। अभी दो स्त्रियों से प्यार के बदले पत्थर पाते उसे देख चुका हूं। अंगरेज युवती ने उसे ठुकराया था, उसकी चचेरी बहन ने भी उसे ठुकरा दिया।

इर्विंग ने उसके मानसिक कष्टों का कैसा सजीव वर्णन किया है! जब उसकी चचेरी बहन ने उसे ठुकराया, उसने अपने प्रेम का सबूत उसके बाप के सामने किस तरह दिया!—मोमबत्ती पर हाथ रख। त्वचा जली, मांस जला और वह निर्निमेष खड़ा रहा! उफ!

उसमें एक स्थल ऐसा आया है, जहां वॉन गौग कई दिनों से भूखा रहा है। वह भूख से व्याकुल बिछौने पर लेटा है। ऐसा वह प्रायः किया करता। किन्तु, फिर सोचा, एक सज्जन से वह कुछ पैसे उधार क्यों न मांग ले। जहां दूसरे लोग उसकी चित्रकला पर नाक-भौं सिकोड़ते, उस सज्जन ने एकाध बार तारीफ कर दी थी। जब उनके यहां पहुंचकर उसने अपना अभिप्राय कहा तो वह चित्रकार सज्जन बोल उठे—

"नहीं बच्चे, नहीं, तुम गलत आदमी के पास आये—संसार में सबसे गलत आदमी के पास। मैं तुम्हें एक छदाम भी नहीं दे सकता।"

"क्या आपके पास फालतू पैसे नहीं हैं ?"

"हैं क्यों नहीं ! क्या मैं तुम्हारी तरह नौसखिया हूं कि जो पैसे न होंगे ! बैंक में इतना जमा कर दिया है कि तीन जन्म तक खा सकता हूं।"

"तो मुझे कुछ रुपये क्यों नहीं दे देते ? मेरी हालत बहुत बुरी है। घर में रोटी का एक टुकड़ा तक नहीं है !"

वह सज्जन आनन्द से हाथ मलने लगा—"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ! यही तो चाहिए। तुम्हारे लिए इसी की तो जरूरत है। अब तुम चित्रकार बन सकोगे !"

वॉन गौग दीवार से सट गया, वह बिना सहारे के खड़ा भी नहीं रह सकता था। फिर पूछ बैठा,—"भूख में ऐसी क्या खूबी है, महाशय ?"

"तुम्हारे लिए सबसे अच्छी चीज यही है। यह तुम्हें कष्ट देगी, सतायेगी, छटपटायेगी।

"मैं कष्ट सहूं, आप ऐसा क्यों चाह रहे हैं ?"

"क्योंकि तब तुम सच्चे कलाकार बन सकोगे। जितना कष्ट पाओ, उतना ही शुक्र मनाओ। इसी धात से सच्चे कलाकार का निर्माण होता है। खाली पेट भरे हुए पेट से कहीं बेहतर है। टूटा हुआ दिल आनन्द में रमे दिल से कहीं उत्तम है। इसे सदा याद रखना, वॉन गौग !"

"ये बेहूदी बातें हैं, क्या आप ऐसा नहीं समझते हैं ?"

चित्रकार सज्जन ने अपनी कूंची उसकी ओर हिलाते हुए कहा,—"जिसने पीड़ा नहीं उठाई, वह चित्रण किसका करेगा ! आनन्द तो एक पाशविक वृत्ति है। वह बैल को चाहिए या व्यापारी को। कलाकार तो पीड़ा में पलता है, पीड़ा में बढ़ता है। यदि तुम्हें भूख मिलती है, निराशा मिलती है, दुर्भाग्य मिलता है तो समझो, भगवान् तुम पर खुश हैं।"

"गरीबी बरबाद कर देती है, पीस डालती है।"

"हां, यह पीस डालती है; किसको ? जो कमजोर हैं, उनको। जिसमें हौसला है, बल है, उसे यह बरबाद कर नहीं सकती। यदि गरीबी तुम्हें पीस दे सके तो तुम कमजोर हो और तुम्हें नष्ट ही हो जाना चाहिए।"

"और तब भी आप मेरी मदद को हाथ नहीं बढ़ायंगे ?"

"नहीं। यदि तुम अपनेको संसार का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार समझो तब भी नहीं। यदि भूख किसीको मार सके तो उसे बचाने का कोई मतलब नहीं। संसार उन कलाकारों का है, जिन्हें न भगवान, न शैतान मार सके, जबतक कि वे अपनी उन सारी चीजों को दे न लें, जिन्हें देने को वे भेजे गये हैं।"

"किन्तु मैं तो वर्षों से भूखों मर रहा हूं। मेरे सिर पर कभी छत नहीं रही। वर्षा में, बर्फ में मैं नंगे बदन, खाली पांव घूमता रहा हूं, जाड़े से कांपता, ज्वर से कांपता, कोई देखनेवाला नहीं, कोई पूछनेवाला नहीं। कष्टों से जो कुछ सीखना था, मैं सीख चुका।"

"नहीं, बच्चे, नहीं! अभी तो तुमने कष्ट की ऊपरी सतह ही कुरेदी है। अभी तो तुमने शुरू ही किया है। मैं कहता हूं, पीड़ा से अधिक शाश्वत वस्तु संसार में और कुछ नहीं है। मैं कहता हूं, जाओ, भागो, दौड़ो, घर पहुंचकर झटपट कूंची पकड़ो। पेट में जितनी ज्यादा कुलबुलाहट रहेगी, उसी फुर्ती से तुम्हारे हाथ चलेंगे।"

"और उतनी फुर्ती से मेरी चीजों को लोग रद्दी के टोकरे में डाल देंगे!"

चित्रकार सज्जन ठठाकर हँस पड़े, "हां-हां, वे रद्दी के टोकरे में डाली जायंगी। यही तो चाहिए। इसी में तो तुम्हारी भलाई है। इससे तुम्हारा कष्ट और बढ़ेगा। तब तुम्हारा अगला चित्र पहले से अधिक अच्छा बन पड़ेगा। यों जब बहुत दिनों तक तुम भूखे रहोगे, कष्ट उठाओगे, गालियां सुनोगे, उपेक्षा पाओगे, तब कहीं वर्षों के बाद वह समय आ सकेगा—याद रखो आ सकेगा, आयेगा ही, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूं—कि तुम्हारे चित्र संसार के महानतम कलाकारों के चित्रों की बगल में स्थान पा सकेंगे।"

"या आपके चित्रों के साथ..."

"यह भी कह लो। किन्तु यदि मैं आज तुम्हें पैसे दे देता हूं तो मैं तुम्हारे लिए वह मार्ग बन्द कर देता हूं, जो तुम्हें अमरता की ओर ले जायगा।"

"अमरता की ऐसी-तैसी! मैं तो अभी और यहां के लिए चित्रण करना चाहता हूं और भूखे पेट चित्रण कर नहीं सकता।"

"बेवकूफी की बात! जितने भी सर्वोत्तम चित्र बने हैं; सब खाली पेट से ही बनाये गए हैं। जब अंतड़ियां भरी होती हैं, वे कुछ दूसरे ही चित्र बनाती हैं।"

कहते हुए वह सज्जन फिर मुस्करा पड़े।

मेरा विश्वास है कि वॉन गौग की जीवनी की ये पंक्तियां पढ़कर निराश और हताश लेखकों को अपने पर, अपनी रचना पर, आस्था होगी और वे अपनी कठिनाइयों से जूझते रहेंगे, यह समझकर कि बड़े-से-बड़े कलाकार को भी ऐसी-ऐसी मुसीबतों का सामना करना पड़ा है, जिनके सामने उनकी मुसीबतें हल्की हैं, तुच्छ हैं। जिनमें मौलिकता है, उन्हें दुनिया देर से पहचानती है। फलतः उन्हें अधिक कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ता है!

: १४ :

एक साहित्यिक सन्त

मैंने एक जगह लिखा है, जिसमें साधुता नहीं हो, उसे साहित्यिक मत मानो। साधुता और साहित्यिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। साधु से मेरा मतलब यह नहीं कि वह कफनी ओढ़े हो, धूनी रमाये हो, संसार से अलग-अलग हो। साधुता के साथ में सरलता, सहृदयता, निश्छलता, पर-दुःख-कातरता, परोपकारिता आदि गुणों को सम्बद्ध मानता हूं। साधुता के साथ साधना तो संलग्न है ही।

यह हमारा सौभाग्य है कि इस युग में हमारे बीच एक ऐसे साहित्यिक हैं, जिन्हें हम एक साहित्यिक सन्त बिना हिचक के कह सकते हैं। वह हैं भाई शिवपूजनसहायजी, जिन्हें नई पीढ़ी के लोग आदर से 'आचार्य शिवपूजनसहायजी' कहते हैं और हम सिर्फ 'शिवजी' कहकर अपनी आत्मीयता प्रकट करते हैं।

बिहार के साहित्यिकों की जो पीढ़ी आज हिन्दी-सेवा में तत्पर है, उसके निर्माण में शिवजी का कितना हाथ है, जब कभी इतिहास इसका उल्लेख करेगा, लोग चकित हो जायंगे। यह तपस्वी अपनेको सदा पीछे रखकर लोगों को बढ़ाता रहा—उन्हें संवारता, सजाता रहा, उनकी पीठ ठोकता और आगे बढ़ने को प्रेरित करता रहा। विनय उनके रग-रग में भरी है, हिन्दी-सेवा उनके जीवन की सांस है! छियासठ वर्ष की उम्र में भी, कई सांघातिक रोगों के कारण, अपनी जर्जर काया को लेकर जो आज भी सरस्वती की सेवा और आराधना में दिन-रात लगा है—उसका चरित्र-चित्रण कर किसीकी भी लेखनी अपनेको धन्य मान सकती है!

शिवजी एक गरीब परिवार से आये हैं। एक बार मैंने उनसे बच्चों के लिए अपने बचपन की घटना लिख देने का आग्रह किया। उन्होंने उसका

प्रारम्भ किया था, अश्वत्थामा के बचपन की घटना से, जब उसकी मां, द्रोणाचार्य की पत्नी, दूध के लिए जिद करने पर उसे आटा घोलकर पिला देती थी। शिवजी जिद्दी कभी नहीं रहे, किन्तु उनकी मां ममता-वश अश्वत्थामा की मां का ही अनुसरण करती थी। महीन पिसे हुए चावल के घोल को शिवजी दूध की तरह बड़े चाव और ललक से पी जाया करते थे।

बचपन से ही शिवजी बड़े भोले थे। उनकी मां उन्हें 'भोलानाथ' कहकर पुकारती थीं। गरीबी के बावजूद बालक शिवजी को वह बड़े लाड़-प्यार से पालतीं। शिवजी में बचपन से ही प्रतिभा की झलक दिखाई पड़ती थी। किन्तु गरीबी तो वह चक्की है, जिसमें बड़ी-बड़ी प्रतिभाएं पिसती रही हैं। शिवजी ने थोड़ी ही शिक्षा प्राप्त की और परिवार के भरण-पोषण की दृष्टि से बनारस जाकर कचहरी में काम करने लगे। एक गोरा-चिट्टा, खूबसूरत, हँसमुख किशोर कचहरी के अहाते में किसी वृक्ष के नीचे टाट बिछाकर उसपर कागज-पत्र बिखराये बैठा किसी मुवक्किल की प्रतीक्षा में है, जो दो-चार आने पैसे देकर अपना दस्तावेज उससे लिखवाये—आज के आचार्य शिवपूजनसहाय, (जिनके चरणों के निकट बड़े-बड़े विद्वान् बैठने में गौरव अनुभव करते हैं) की इस मूर्ति की कल्पना भी भावमुग्ध बना देती है!

जीविका की खोज में इधर-उधर भटकते रहने पर भी विद्या का व्यसन नहीं गया। किसी तरह मैट्रिक पास कर अपने शहर—आरा (बिहार)—में एक स्कूल में वह मास्टर बने।

आरा उन दिनों बिहार में साहित्यिक जागरण का केन्द्र था। वहां की नागरी-प्रचारिणी सभा काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रतिद्वंद्विता करती थी। शिवजी ने सभा से सम्पर्क स्थापित किया और उसके विशाल पुस्तकालय की सहायता से अपने ज्ञान की वृद्धि में तत्पर हुए। अन्ततः उस पुस्तकालय के वह पदाधिकारी भी बनाये गए। महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा, तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रथम जीवनी-लेखक बाबू शिवनन्दनसहाय, 'सौन्दर्योपासक' नामक मौलिक उपन्यास के रचयिता बाबू ब्रजनन्दन सहाय, 'मनोरंजन' के

सम्पादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि महान् साहित्यिक आचार्यों की संगति का लाभ उन्हें मिलने लगा। शिवजी के हृदय में, अंतःसलिता फल्गु की तरह जो साहित्य-गंगा तरंगित हो रही थी, वह अनायास प्रत्यक्ष हुई। उनकी रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं।

उन दिनों गया से 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका प्रकाशित होती थी, जिसके सम्पादक थे लाला भगवानदीनजी। 'लक्ष्मी' की प्रायः 'सरस्वती' से टक्कर हो जाया करती थी। लालाजी हिन्दी के प्राचीन साहित्य के आचार्यों में से थे। 'लक्ष्मी' में हिन्दी की प्राचीन कविताओं की बानगी भी प्रायः मिला करती। मैं उसका, अपनी किशोरावस्था में भी, नियमित पाठक था। उसमें शिवजी का एक लेख मैंने पहले-पहल पढ़ा। शीर्षक था—"हमारे हिन्दी के कवियों ने कमाल किया है!" कविताओं का चुनाव तो चुटीला था ही, उसकी व्याख्या में मैंने एक नवीन शैली पाई। शब्दावली क्या थी, मोतियों की लड़ी! मोती ही की तरह चमकते-दमकते शब्द, जो भाव-सूत्र में इस तरह पिरोये गये थे कि मन को मोह लेते थे। मैं उस लेख से ही शिवजी के प्रति आकृष्ट हो गया था; किन्तु क्या उस दिन यह सोच सका था कि यह आकर्षण आजीवन का हार्दिक बन्धन बन जायगा!

और, संयोग ऐसा घटा कि मैं कई सप्ताहों के लिए उनके सान्निध्य का सुअवसर पा सका। बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का संगठन हो चुका था। मैं उसका सहकारी मंत्री बनाया गया था। बेतिया में उसका द्वितीय अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति थे सूर्यपुराधीश राजा राधिका-रमणप्रसादसिंह। सम्मेलन ने अपना प्रकाशन प्रारम्भ करने का निर्णय किया और उसके लिए प्रथम पुस्तक देने और छपाने का भार लिया राजासाहब ने ही। 'तरंग' नाम से वह पुस्तक निकली। उस पुस्तक की पाण्डुलिपि लेने के लिए मैं राजासाहब की सेवा में आरा पहुंचा। वहीं शिवजी से साक्षात्कार हुआ। शिवजी की उन दिनों की तस्वीरें मेरी आंखों में आजतक झूल रही हैं!

गोरा-चिट्टा चेहरा, घुंघराले काले बाल उनकी शोभा और आभा द्विगुणित कर रहे थे। बालों को इस तरह संवारते कि उसका एक गुच्छा चमचमाते ललाट पर लटका होता। रसीली आंखें, जो हँसी में सदा उनके

होंठों से प्रतिद्वंद्विता करती। बहुत लोगों को पान खाते या चबाते देखा है, किन्तु शिवजी के होंठों पर पान की जैसी लाली खिलती, वैसी दूसरों के होंठों पर खिलती, बहुत कम पाई है। बातें करते-करते खिलखिलाकर हँस पड़ते, ताम्बूल-रंजित उनकी दंतपंक्ति कौंध उठती ! कितने चुटकुले याद, कितनी कविताएं कण्ठस्थ ! संध्या को किसी-न-किसी मित्र के घर चण्डाल-चौकड़ी जुटती, भंग छनती, मिठाइयां उड़तीं ! फिर हम लोग काव्य-गगा में अवगाहन करने लगते। शाम को जो बैठते तो आधी रात के बाद ही उठते ! एक दिन हम छत पर बैठे थे। लगता था, काव्य-गंगा आकाश-गंगा से जा मिली हो !

फिर असहयोग का युग आया। मैंने पढ़ना छोड़ा, शिवजी ने पढ़ाना छोड़ा। बारीक कपड़े के कुर्ते और पल्ले की टोपी की जगह खादी का लिबास। किन्तु वह रुखड़ा लिबास भी उनपर कितना फबता ! उसी समय उनका 'बिहार का बिहार' निकला। जब मैंने 'बिहारी सतसई' की टीका लिखी तो उसके लिए उन्होंने 'सससई का सौष्ठव' शीर्षक से भूमिका लिख दी।

आरा में एक मारवाड़ी युवक थे, नाम था हरद्वारप्रसाद जालान। धनी आदमी थे, साहित्य की ओर पूरी रुचि थी। असहयोग के बाद उन्होंने शिवजी के सम्पादकत्व में 'मारवाड़ी-सुधार' नामक मासिक पत्र निकाला। यों तो वह मासिक पत्र मारवाड़ी समाज से सम्बन्ध रखता था, किन्तु जिसके सम्पादक शिवजी हों, उस पत्र में साहित्यिकता का पुट न हो, यह कैसे सम्भव था ! 'मारवाड़ी-सुधार' साहित्यिकों का भी गलहार था। बहुत सुन्दर छपता। शिवजी छापे की अशुद्धियों के शत्रु हैं। उनके द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं में सदा यह खूबी रही है कि उनमें छापे की अशुद्धियां नहीं रह पातीं। 'मारवाड़ी-सुधार, छपाई और शुद्धता की दृष्टि से भी अनुपम था।

'मारवाड़ी-सुधार' के सिलसिले में ही शिवजी कलकत्ता आने-जाने लगे। वहां स्व० महादेवप्रसाद सेठ और मुंशी नवजादिकलालजी से उनकी घनिष्ठता बढ़ी और इस घनिष्ठता का सुन्दर फल था—'मतवाला'।

'मतवाला'—हिन्दी का वह हास्यप्रधान साप्ताहिक, जिसके जोड़ का पत्र क्या अबतक निकल सका ? 'मतवाला' ने सारे हिन्दी-संसार में धूम

मचा दी थी। उसके मुखपृष्ठ पर निरालाजी की कविताएं छपतीं! मुख-पृष्ठ की उन कविताओं ने हिन्दी में एक नये युग के आरम्भ की सूचना दी। 'मतवाला' की पंक्ति-पंक्ति से हास्य और विनोद की अजस्र धारा फूटती। उसकी 'चलती चक्की' के पाटों के बीच जो पड़ा, वह गया। देश की राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक घटनाओं पर ऐसे चुटकुले छपते कि वे तुरन्त ही जबान-जबान की चीज बन जाते। 'मतवाला' किसीको क्षमा न करता और ऐसा कौन था, जो उसकी चाबुक' की चोट से तिलमिला न उठता! उसके हर अंक को लोग घोलकर पी जाना चाहते। उसके आगामी अंक की प्रतीक्षा की जाती। एजेंटों के बंडल खुले नहीं कि लूट मच जाती। एक-एक के हाथ से छीनकर दस-दस पढ़ते!

शिवजी 'मतवाला'-मंडल में रास रचा रहे थे, मैं बिहार के टुट-पुंजिये पत्रों के दफ्तरों में अपनी ठेलागाड़ी घसीटे जा रहा था कि अचानक मैं दमे के रोग से आक्रान्त हुआ और मरते-मरते बचा। अपने देहात के गांव से ही मैंने शिवजी को पत्र लिखा। तुरन्त ही उनका कार्ड मिला। साधारण पोस्टकार्ड पर लाल रोशनाई से उन्होंने लिखा था कि पत्र पाते ही पटना आओ, अमुक स्थान पर पहुंचकर इस तरह मुड़ना और सामने थोड़ी दूर जाकर अमुक का नाम पूछना। तुम्हारे लिये एक काम सोच लिया है, वहीं बताऊंगा। शिवजी के एक दोस्त थे, जो पटना से 'गोलमाल' नामक एक हास्यप्रधान-पत्र निकालना चाहते थे। मैं पटना पहुंचकर शिवजी से मिला। उन्होंने उसके लिए सारे शीर्षक ठीक कर दिये, पहला सम्पाद-कीय लिख दिया और कलकत्ता लौट गये।

मैंने उनके बताये रास्ते पर चलना शुरू कर दिया। हर सप्ताह वह एक लम्बा पत्र भेजते, प्रेस-मैटर लिखने के लिए कटे लम्बे-लम्बे स्लिप पर, लाल रोशनाई से। कोई-कोई पत्र सात-आठ पृष्ठों के होते। पत्र के साथ ही 'गोलमाल' में पिछले अंक को उसी लाल रोशनाई से गोद-गाद कर भेज देते और पत्र में बताते कि कहां मैंने भूल की, कहां हल्की चीज गई, कहां फालतू चीज दी गई। मेरी त्रुटियों को ही न बताते, मुझे उत्साहित करने के लिए बड़ी शाबासी देते और मेरे उज्ज्वल भविष्य का सुनहला स्वप्न दिखाते! मैं कह सकता हूं, उन पत्रों से ही मैंने सम्पादन

श्रौर लेखनकला का गुरुमुख ज्ञान प्राप्त किया श्रौर उनके उत्साहप्रद वाक्यों ने ही मुझमें वह आत्मविश्वास भर दिया कि श्राज जहां हूं, उसे शिवजी का प्रसाद मानता हूं !

'मतवाला'-मंडल से शिवजी, 'माधुरी' में गये। नवलकिशोर प्रेस की साधन-सम्पन्नता श्रौर श्री दुलारेलाल भार्गव की कर्मठता के कारण उन दिनों 'माधुरी' हिन्दी की सबसे प्यारी पत्रिका बन गई थी। शिवजी के सहयोग ने 'माधुरी' में मिश्री घोल दी; किन्तु शायद विधाता को यह सहयोग पसन्द न था। लखनऊ में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ। शिवजी किसी प्रकार जान बचाकर अपने घर पहुंचे, किन्तु कितनी अमूल्य निधियां चिट्ठियों श्रौर पाण्डुलिपियों के रूप में गंवाकर ! लगता था, शिवजी सदा के लिए टूट गये !

शिवजी को उनके मित्र फिर घसीटकर कलकत्ता ले गये। इधर मैं लहरियासराय पहुंचा श्रौर वहां से कई साहित्यिक पुस्तकमालाएं निकालना प्रारम्भ किया। फिर 'बालक' निकालने की योजना बनाकर कलकत्ता पहुंचा। स्वभावतः ही सोचा, शिवजी से सलाह-मशविरा कर लूं, वहीं चित्रादि बनवाऊं श्रौर सम्भव हो तो वहीं छपवाऊं भी। 'मतवाला' तब भी प्रकाशित हो रहा था, किन्तु उसका मंडल बिखर चुका था, वह श्रीहीन हो चला था। अकेले शिवजी उसके बोझ को किसी तरह ढो रहे थे। हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी से 'उपन्यास-तरंग' नामक एक मासिक पत्र निकलता, जिसके सम्पादक के स्थान पर शिवजी का नाम रहता। कलकत्ता की एक गन्दी गली में एक छोटा-सा कमरा लेकर शिवजी रहते—उनकी रुग्ण पत्नी भी साथ थीं, जो इस अवस्था में भी घर के सारे काम-काज अपने हाथों सम्हालती थीं।

मैं शिवजी को इस स्थिति में देखकर दंग रह गया। होंठों पर वही मुस्कान, किन्तु चेहरे की वह चमक कहां गई ! अब भी खिलखिलाकर हँसते, किन्तु उस हँसी में वह आंतरिक उल्लास कहां ! काम का बोझ इतना कि सवेरे से शुरू करते तो दो-दो बजे रात तक मोमबत्ती जला-जलाकर खटते रहते। मैंने मन-ही-मन तय किया, शिवजी का इस स्थिति से उद्धार करूंगा। 'बालक' का पहला अंक निकालकर लहरियासराय लौटा

और हिन्दी-पुस्तक-भण्डार के संचालक से बातें कीं। 'बालक' की छपाई का प्रबन्ध काशी के ज्ञानमंडल प्रेस में किया और शिवजी को जैसे-तैसे मनाकर काशी ले आया।

काशी के वे दिन ! काल-भैरव के ऊपर का वह दोतल्ला मकान— हमारे हँसी-ठहाके से सारा मुहल्ला गूंजता। प्रेमचन्दजी, प्रसादजी, लाला भगवानदीनजी, हरिऔधजी, रामदास गौड़, रामचन्द्र वर्मा आदि बुजुर्गों की संगति के साथ बेढब, सुमन, लक्ष्मीनारायण मिश्र, मनोरंजन, उग्र, शान्तिप्रिय आदि नौजवानों की टोली का सुखद साहचर्य ! शिवजी फिर लिखने लगे। भाभी चल बसीं तो शिवजी की नई शादी कराई। शिवजी की वह बरात ! काशी की गहरी बूटी छानकर डगमग पैरों से हमने अपने अनुपम दूल्हे के साथ बरात दरवाजे लगाई, अंटशंट बका किये, जिसका फल यह हुआ कि विदाई के समय मुश्किल से अपनी खोपड़ी बचा सके !

हां, शिवजी को यथार्थत: पार्वती मिलीं। उन्होंने उनके घर को ही नहीं सम्हाला, उन्हें दो पुत्रियां और दो पुत्र दिये ! यह तीसरी भाभीजी भी अब नहीं रहीं; किन्तु शिवजी का घर तो भरा-पूरा छोड़ ही गई हैं !

लहरियासराय से हटकर मैं पटना आया और 'युवक' के साथ ही राजनीति में पूरा रंग गया; किन्तु शिवजी वहीं रह गए। फिर मेरा जेल-जीवन का चक्कर शुरू हुआ; किन्तु जब कभी बाहर रहता, शिवजी को प्रणाम कर आता। शिवजी ने सदा स्नेह की वर्षा की और मेरी तथा मेरे परिवार की शुभकामना करते रहे। उनकी शुभकामना सदा सुफलदायिनी रही है, यह मैं निस्संकोच कह सकता हूं।

कुछ नवयुवकों ने छपरा में एक कालेज खोला, जिसका नामकरण वर्तमान राष्ट्रपति के नाम पर 'राजेन्द्र कालेज' किया गया। उन नवयुवकों ने चाहा कि उसके हिन्दी-विभाग में शिवजी को ले जायं, किन्तु दिक्कत यह थी कि उन दिनों तक पटना-विश्वविद्यालय का अध्यापक वही हो सकता था जो एम०ए० हो। उन नौजवानों ने दौड़-धूप की और सबसे पहली बार शिवजी के लिए ही विश्वविद्यालय ने इस नियम को ढीला किया। तब से तो रास्ता ही खुल गया और हिन्दी के कितने ही लेखक और कवि कालेजों में प्रोफेसर और प्रिंसिपल बनाये गए।

जब १९४६ में मैं पूर्णतः कारामुक्त हुआ, बिहार से एक अच्छा साहित्यिक मासिकपत्र निकालने की धुन में लगा। मेरा प्रयत्न सफल हुआ और बड़े ठाट-बाट से 'हिमालय' निकला, जिसके सम्पादकद्वय में शिवजी और मेरा नाम छपा। 'हिमालय' के सम्पादक के रूप में शिवजी की साहित्यिक प्रतिभा की पूरी झलक हिन्दी-संसार को मिली, यद्यपि उनकी सेवाओं से तो हिन्दी-संसार पूर्णतः परिचित था ही। दुःख की बात है, 'हिमालय' भी असमय में ही तिरोहित हो गया। शिवजी फिर अध्यापन में लग गए।

इसी समय बिहार में 'राष्ट्रभाषा परिषद्' की स्थापना की बात चली। हिन्दी के कई ख्यातिनामा दिग्गज विद्वानों से उसके मंत्रित्व के लिए पत्राचार होने लगे! किन्तु अन्त में शिवजी को ही इस पद के लिए वरण किया गया।

मैं ही यह दावा नहीं करता, सभी जानकार लोगों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि पांच-छः वर्ष की छोटी अवधि में ही, शिवजी के मंत्रित्व में, 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्' ने हिन्दी की जो सेवाएं की हैं, वे अनुपम हैं! लगभग दो दर्जन अच्छे-से-अच्छे प्रामाणिक ग्रन्थ निकाले गए हैं, हिन्दी संसार के जाने-माने विशेषज्ञ विद्वानों से सपुरस्कार भाषण दिलाये गए हैं, उत्तमोत्तम पुस्तकों को पुरस्कृत किया गया है, वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों को पन्द्रह-पन्द्रह सौ रुपयों की थैली के साथ सम्मानित किया गया है, होनहार लेखकों और विद्यार्थियों को उत्साहित करने के लिए उन्हें अच्छी रकमें पुरस्कार-स्वरूप दी गई हैं। हिन्दी-संस्थाओं को तथा संकट-ग्रस्त साहित्यिकों को सहायता देने का भी सिलसिला कायम किया गया है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के विद्वानों को बुलाकर, उनसे उनकी भाषाओं पर भाषण दिलवाकर तथा उन्हें योग्य सम्मान देकर 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्' ने हिन्दी में एक बिल्कुल नई परम्परा ही स्थापित की है।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के मन्त्रित्व-काल में ही अचानक शिवजी बीमार पड़े और डाक्टरों ने उस बीमारी को राजयक्ष्मा घोषित किया। मैं कहीं बाहर था। जब लौटा तो पाया, वह अस्पताल में हैं और ऐसी

संगीन हालत है कि कभी भी हमें छोड़कर महाप्रस्थान कर सकते हैं। किन्तु हमारा सौभाग्य कि थोड़े ही दिनों में शिवजी की स्थिति सुधर गई! उस संघातक रोग से मुक्त होकर वह फिर परिषद् की सेवा में तत्पर हैं!

शिवजी की तरह शब्दों का शिल्पी हिन्दी-संसार में शायद ही कोई हो। भाषा की विशुद्धता के तो वह आचार्य हैं। यही कारण है कि जब काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित करने का निर्णय किया तो उस ग्रन्थ का सम्पादन-भार शिवजी को ही सौंपा गया। राष्ट्रपति श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू की 'आत्म-कथा' हिन्दी-संसार के सम्मुख आने के पहले शिवजी की लेखनी के नीचे से गुजरी। एक युग तक बिहार से जो भी अच्छी पुस्तकें निकलीं, वे शिवजी की लेखनी का प्रसाद पाती रहीं।

शिवजी की तरह सुन्दर लिपि लिखनेवाले हिन्दी-संसार में कम ही मिलेंगे। अपने सम्पादक-जीवन में मैंने सब आचार्यों की लिपियां देखी हैं, पर ऐसे गोल-गोल सुडौल मोती के दाने-से अक्षर अन्यत्र नहीं मिले। जल्द-जल्दी में लिखे, उनके सात-आठ पृष्ठों के पत्र देखे हैं, किन्तु कहीं काट-कूट का नाम नहीं! मानो उनके विचार, भाषा और लिपि में तदात्मता स्थापित हो चुकी हो!

परिश्रमशीलता का यह हाल कि अब, जबकि उनकी काया जर्जर हो चुकी है, आंखों ने बहुत-कुछ ज्योति खो दी है, थोड़ा घूमने के बाद भी वह अशक्तता का अनुभव करते हैं, जोर से बोल भी नहीं सकते तो भी दिन-रात काम में अपनेको जोते रहते हैं—यद्यपि सभी चाहते हैं कि वह पूर्ण विश्राम करें। उनकी उपस्थिति ही परिषद् के लिए बहुत है। परिषद के संचालक-मण्डल ने भी उनसे बार-बार कहा, किन्तु कौन सुनता है! कार्य ही उनका जीवन बन गया हो जैसे!

लगभग चालीस वर्ष से शिवजी बिहार के साहित्यिक इतिहास के लिए सामग्री संकलित करने में लगे थे। सुयोग्य सहायकों की सहायता से आज-कल उसे ग्रन्थ का रूप देने में जुट पड़े हैं। तीन खण्डों में पूर्ण होनेवाला यह ग्रन्थ बिहार के लिए गौरव-ग्रन्थ होगा, इसमें सन्देह नहीं।

शिवजी शतायु हों!

: १५ :

कोई हँसना इनसे सीखे !

मानव-वंश की विशेषताओं में हँसी की भी गिनती होती है। सभी प्राणियों में मनुष्य ही हँसता है, ऐसा लोगों का विश्वास रहा है। यद्यपि इस धारणा का खंडन श्री जगदीशचन्द्र बसु के प्रयोगों ने कर दिया है और अब माना जाने लगा है कि जीव-जन्तु की क्या बात, पेड़-पौधे भी हँसते हैं। किन्तु तो भी मनुष्य की हँसी, उनकी अन्य कई खूबियों की तरह, कुछ और ही है। उच्च अट्टहास से लेकर मधुर मुस्कान तक, हास्य की एक ऐसी सरणी उसके जीवन से जुड़ी है कि जब-जब उसकी कल्पना कीजिये, विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है ! जीव-जन्तु के जीवन में भी हास्य की धारा प्रवाहित होती होगी, पेड़-पौधों के रेशों में भी गुदगुदी दौड़ती होगी, मानता हूं। किन्तु कभी जोरों का ठहाका लगाकर छतों को हिला देना, कभी खिलखिलाहट से सारे कमरे को फूलों की सुवास से भर देना और कभी हल्की मुस्कराहट से किसीके दिल को जीत लेना, यह वरदान तो मनुष्य को ही मिला है।

और, यदि यह वरदान है तो हम मानवों में, जिनमें कुछ लोगों पर इसकी अजस्र वर्षा की गई, उनमें स्वर्गीय पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का नाम पहली पंक्ति में लिखा जायगा। जैसी उन्मुक्त हँसी मैंने चतुर्वेदीजी में पाई थी, वैसी हँसी अन्यत्र नहीं मिली। चतुर्वेदीजी को उनके जीवन में ही 'हास्यरसावतार' की उपाधि हिन्दी-संसार ने सर्वसम्मति से दे रखी थी। वह जहां भी रहते, हँसी की फुलझड़ियां छूटती रहतीं। जिस साहित्य-गोष्ठी में वह पहुंच जाते, वहां का सारा वातावरण ही हास्य-रस से ओतप्रोत हो जाता। जहां चतुर्वेदीजी हों, वहां मनहूसियत रह नहीं सकती थी।

प्रकृति ने उन्हें ऐसा रूप दिया था, जिसपर हँसी वैसी ही खिलती थी, जैसी कुमुद-वन में शरद की शुभ्र चांदनी खिलती है। गोरा-चिट्टा

चेहरा, सजे-संवारे बाल, सिर पर कलंगीदार मुरेठा, पतली भवों के नीचे हंसती हुई आंखें, उनपर सुनहले फ्रेम का चश्मा, काली मूंछें, पंक्तिबद्ध चौकोर, चमकीले दांत, छोटी ठुड्डी—मैंने १९१८ में, जबकि वह बिहार-प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व कर रहे थे, उन्हें इस रूप में देखा था। सभापति को गम्भीर होना चाहिए, यह धारणा तो आजतक बनी हुई है, किन्तु जब चतुर्वेदीजी अगणित मालाओं से लदे, अपना सभापति का भाषण सुनाने को उठे, और, एक मन्द मुस्कराहट से, सोनपुर-मेले में आये किर्लोस्कर नाटक-भवन के उस विशाल हॉल में ठसाठस भरे हुए प्रतिनिधिओं और दर्शकों की ओर देखा तो ऐसा लगा कि सबके हृदय को वह तार छू गया, जो आनन्द की लहर दौड़ा देता है और जब उन्होंने भाषण शुरू किया तो लोग भाव-विमुग्ध ही नहीं बने रहे, बल्कि बीच-बीच में सभा-भवन अट्टहास से गुंजित होता रहा।

इसके थोड़े दिनों के बाद ही मुझे कलकत्ता जाने का सुअवसर मिला और अपनापे का खयाल कर मैंने चतुर्वेदीजी के साथ ठहरने का बचपना कर लिया। वहां देखा, उसका घर भी सदा हँसी से गुंजायमान होता रहता। अपने मित्रों और समवयस्कों से ही नहीं, बच्चों और घर के नौकरों से भी चुहलें करने से वह न चूकते और वह घटना तो लिपिबद्ध हो चुकी है कि किस प्रकार एक दिन उनकी धर्मपत्नी अपने दोनों बेटों को बड़े प्रेम से खिला रही थीं और वह तालियां बजाकर गा रहे थे—

कल्लू-मल्लू दोनों भाई, ैठ प्रेम से खाते हैं,
बैठी माता खिला रही हैं, खड़े पिताजी गाते हैं।

उनके लेखों में, कविताओं में भी हँसी और विनोद का पुट सर्वत्र मिला करता था। 'भारतमित्र' में एक स्थायी शीर्षक के अन्तर्गत वह सदा 'मौजीराम' के नाम से चुटकुले लिखते थे। उन चुटकुलों को पढ़ने के लिए भी लोग 'भारतमित्र' खरीदते थे। हिन्दी-साहित्य में विनोद का ऐसा कोई प्रसंग नहीं आता था, जो चतुर्वेदीजी के विनोदी नेत्रों से बच जाय।

उस समय भी हिन्दी-शैली की दो धाराएं चलती थीं, एक संस्कृत-निष्ठ, जिसके आचार्य द्विवेदीजी थे और एक जनसाधारण की बोली से